स्वाध्याय-दर्पण



आचार्य ब्र. नन्दकिशोर

Sub Ram Gopal,

Siliguri - 15/2/99

विद्यार्थियों की दिनचर्या

लेखक

स्वामी जगदीश्वरानन्द

सरस्वती

प्रकाशक ! विजयकुमार गोविन्द

राम हासानन्द

४४०८ नई सड़क

दिल्ली ११०००६

भारत

आवरण - इलहाम

संस्करण : १९९६

वेद सब सत्य विद्याओं का पुस्तक है।
वेद का पढ़ना-पढ़ाना और सुनना-
सुनाना सब आर्यों का
परम धर्म है।

—महर्षि दयानन्द सरस्वती

मूल्य : २५.०० रुपये

प्रकाशक : विजयकुमार गोविन्दराम हासानन्द
४४०८, नई सड़क, दिल्ली-११० ००६
संस्करण : १९९७
मुद्रक : स्पीडो ग्राफिक्स
पटपड़ गंज, दिल्ली

दो शब्द

महर्षि पतञ्जलि ने योगदर्शन में स्वाध्याय को क्रिया योग, नियम तथा इष्ट देवता का साक्षात्कार करने का साधन माना है। शतपथ ब्राह्मणकार ने स्वाध्याय ही ब्रह्मयज्ञ है, इस प्रकार वर्णन किया है। महर्षि मनु ने पञ्चमहायज्ञों में ब्रह्मयज्ञ को मुख्य स्थान दिया है। इन पञ्चमहायज्ञों को यथाशक्ति नित्यप्रति करते रहे, कदापि न छोड़े। किसी श्लोक में मनु ने अपने जीवन में स्वाध्याय करनेवाले को समस्त फलों की प्राप्ति होती है ऐसा कहा है, इस प्रकार मनु ने स्वाध्याय के विषय में अधिक प्रकाश डाला है। वैदिक साहित्य में स्वाध्याय हमारी दिनचर्या का प्रमुख अङ्ग है। स्वाध्याय करनेवाला सुख की नींद सोता है। स्वाध्याय करनेवाले को सांसारिक सुखों से भी अधिक आनन्द स्वाध्याय में मिलता है। स्वाध्याय करनेवाला ब्रह्मचर्य का मतवाला हो जाता है। स्वाध्याय करनेवाला "भामति वाचस्पति मिश्र" दर्शनाचार्य कहलाता है।

स्वाध्याय करनेवाला मनन से मुनि कहलाता है। वेद का स्वाध्याय करनेवाला संन्यासी श्रवण, मनन, निदिध्यासन और साक्षात्कार से परम लक्ष्य की ओर अग्रसर होता है। मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीराम और योगेश्वर श्रीकृष्ण ने स्वाध्याय से यज्ञधर्म मर्यादा की रक्षा की और चक्रवर्त्ती राज्य का सञ्चालन किया। स्वाध्याय प्रेमियों के लिए मैंने ''स्वाध्याय-दर्पण'' नामक लघु पुस्तिका में सौ से अधिक वैदिक ग्रन्थों का प्रमाण तथा आर्य विद्वानों के विचारों का समावेश किया है, जिससे पता चलता है कि ऋषि-महर्षियों का जीवन वेदानुसार था। ये ऋषि-महर्षि प्रातःकाल ब्राह्ममुहूर्त्त में उठकर ईश्वर का स्मरण और वेद का स्वाध्याय किया करते थे। वेद और ऋषि-महर्षियों के अनुसार मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीराम और योगेश्वर श्रीकृष्णजी अपने जीवन में प्रातःकाल उठकर ओ३म् का स्मरण और गायत्री का जाप किया करते थे। ये वेद-वेदाङ्ग के ज्ञाता थे। पाँच हज़ार वर्ष के पश्चात् जो वेद और ऋषि-मुनियों की मर्यादा टूट चुकी थी, मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीराम और योगेश्वर

श्रीकृष्ण को लोग भूलते जा रहे थे। पुनः इस आर्यावर्त्त की धरती पर महर्षि दयानन्द सरस्वती का प्रादुर्भाव हुआ। इन्होंने पुनः आर्यों के जीवन में दैनिक नित्य कर्त्तव्यों और वेद के स्वाध्याय को परम धर्म बतलाकर जागरूक किया। रामायणकाल और महाभारतकाल पर्यन्त तक सभी लोग वेदों का स्वाध्याय किया करते थे। इन्हीं सब विषयों पर ''स्वाध्याय-दर्पण'' नामक लघु पुस्तिका में चर्चा की गई है। इसके अतिरिक्त दैनिक नित्य कर्म-विधि कुछ वेद मन्त्र के सूक्त, सूक्तियाँ, योग-सूत्रार्थ, चारों वर्ण, आश्रम, आर्ष ग्रन्थ, महर्षि दयानन्द कृत स्वाध्याय सम्बन्धी ग्रन्थ और वैदिक सिद्धान्तानुकूल भजनों का उल्लेख कर दिया गया है। मेरी इच्छा थी कि पाठकों के लाभार्थ पुस्तक में अच्छी से अच्छी सामग्री दी जा सके, जिससे स्वाध्याय करनेवालों को वैदिक धर्म के प्रति अटूट श्रद्धा हो, आशा है स्वाध्याय प्रेमी अधिकाधिक स्वाध्याय करके लाभान्वित हो सकेंगे।

विदुषामनुचरः

—ब्र० नन्दकिशोर

समर्पण

आर्य जगत् के गौरव गुरु वीतराग पूज्यपाद स्वामी सर्वानन्दजी महाराज अध्यक्ष सार्वदेशिक वैदिक यति-मण्डल को ऋषि उद्यान अजमेर में श्रद्धालु आर्यों ने ५/११/१९९५ को ३१ लाख रुपये की धन-राशि देकर ससम्मान अलंकृत किया, उन्हीं के पावन कर कमलों में यह **'स्वाध्याय-दर्पण'** लघु पुस्तक समर्पित।

—ब्र० नन्दकिशोर

विषय-सूची

अथ स्वाध्याय-दर्पण

प्रातः जागरण

वेद में कहा गया है कि—

प्राता रत्नं प्रातरित्वा दधाति।

—ऋ० १।१२५।१

प्रभात काल में उठनेवाला रत्नों को धारण करता है।

वेद का अनुसरण करते हुए मनुजी ने भी कहा है—

ब्राह्मे मुहूर्त्ते बुध्येत धर्मार्थौ चानुचिन्तयेत्।
कायक्लेशांश्च तन्मूलान्वेद तत्त्वार्थ मेव च॥

—मनु० ४।९२

सत्यार्थप्रकाश के चतुर्थ समुल्लास में महर्षि ने इस प्रकार अर्थ किया है—

रात्रि के चौथे प्रहर अथवा चार घड़ी रात से उठे। आवश्यक कार्य करके धर्म और अर्थ, शरीर

के रोगों का निदान और परमात्मा का ध्यान करे। कभी अधर्म का आचरण न करे।

महर्षि मनु का अनुसरण करते हुए 'भावप्रकाश' आदि आयुर्वेद ग्रन्थों में ज्यों-का-त्यों वर्णन मिलता है।

ब्राह्मे मुहूर्त्ते उत्तिष्ठेत्स्वस्थो रक्षार्थमायुषः।
शरीरचिन्तां निर्वर्त्य कृत शौच विधिस्ततः॥

प्रत्येक मनुष्य जीवन आयु की रक्षा के लिए ब्राह्ममुहूर्त्त में उठे और शरीर की चिन्ताओं को छोड़कर, शौच स्नानादि करके स्वस्थ चित्त होकर प्रभु-स्मरण आदि नित्यकर्मों को करे।

ब्रह्ममुहूर्त्त में उठने से लाभ

वर्णं कीर्तिं मतिं लक्ष्मीं स्वास्थ्यमायुश्च विन्दति।
ब्राह्मेमुहूर्त्ते संजाग्राच्छ्रियं वा पङ्कजं यथा॥

—भै० सा० ९३

अर्थात् प्रातः काल उठने से सौन्दर्य, यश,

बुद्धि, धन-धान्य, स्वास्थ्य और दीर्घायु की प्राप्ति होती है। शरीर-कमल के समान खिल जाता है।

ब्राह्ममुहूर्त्त में सोने से हानि

ब्राह्ममुहूर्त्ते या निद्रा सा पुण्यक्षयकारिणी॥

ब्राह्म मुहूर्त्त में सोना सब पुण्यों अर्थात् शुभ कार्यों का क्षय (नाश) करनेवाला होता है।

सोनेवाले का सूर्य द्वारा तेज अपहरण

वेद में कहा गया है—

उद्यन्त्सूर्य इव सुप्तानां द्विषतां वर्च आददे॥

—अथर्व० ७।१३।२

जो सूर्य उदय के पश्चात् अथवा दिन में सोता है उस सोनेवाले के तेज को उदय होता हुआ सूर्य हर लेता है। जैसे अपने शत्रुओं के तेज को एक तेजस्वी पुरुष हर लेता है। हिन्दी के कवि ने भी ब्राह्म मुहूर्त्त पर स्वर आलाप किया है—

हर रात के पिछले पहर में,
इक दौलत लुटती रहती है।
जो सोवत है सो खोवत है,
जो जागत है सो पावत है।

सन्ध्या के विषय में मनु ने मनुस्मृति में अधिक लाभकारक बताया है—

ऋषयो दीर्घ सन्ध्यत्वाद् दीर्घमायुरवाप्नुयुः।
प्रज्ञां यशश्च कीर्तिं च ब्रह्मवर्चसमेव च॥

—मनु० ९।९४

ऋषियों ने दीर्घ जप करके अर्थात् लम्बे समय तक सन्ध्या की, उसी के अनुसार दीर्घायु प्राप्त की, बुद्धि और यश प्राप्त किया और मरने के पश्चात् अमर कीर्ति प्राप्त की और इसी दीर्घकालीन जप से ब्रह्मतेज भी प्राप्त किया।

गायत्री के जप करने का स्थान

अपां समीपे नियतो नैत्यिकं विधिमास्थितः।
सावित्रीमप्यधीयीत गत्वाऽरण्यं समाहितः॥

—मनु० २।१०४

अर्थ—जङ्गल में अर्थात् एकान्त देश में जो, सावधान होके जल के समीप स्थित होके नित्यकर्म को करता हुआ सावित्री अर्थात् गायत्री मन्त्र का उच्चारण अर्थज्ञान और उसके अनुसार अपने चाल-चलन को करे, परन्तु यह जप मन से करना उत्तम है।

आचम्य प्रयतो नित्यमुभे सन्ध्ये समाहितः।
शुचौ देशे जपञ्जप्यमुपासीत यथाविधि॥

—मनु० ४।२२२

मनुष्य प्रतिदिन दोनों सन्ध्यावेलाओं में शुद्ध स्थान पर बैठकर, आचमन करके एकाग्र होकर विधिपूर्वक (ओ३म्) का अर्थ-चिन्तनपूर्वक जप करता हुआ ईश्वरोपासना करे।

ओ३म् का स्मरण

ओं क्रतो स्मर॥ —यजुः० ४०।१५

अर्थात् हे जीव! तू ओ३म् का स्मरण कर। गीता में भी कहा है—

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन् मामनुस्मरन्।
यः प्रयाति त्यजन् देहं स याति परमां गतिम्॥
—गीता ८।१३

अर्थात् ओ३म् इस एक अक्षर ब्रह्म को स्मरण करता हुआ और उसके अर्थ का ध्यान करता हुआ जो देह त्यागता है वह उत्तम गति को प्राप्त होता है।

तज्जपस्तदर्थभावनम्॥ —योग० १।२८

अर्थात् ओ३म् का जप और उसके अर्थ का चिन्तन करना। यह प्रणिधान अर्थात् एकाग्रता का साधन है।

इस प्रकार परमात्मा के असंख्य नामों में ओम् नाम के जप का ही विधान आर्ष ग्रन्थों में है, क्योंकि भगवान् का अपना निज नाम केवल एक ओम् ही है। दूसरा कोई भी नाम उसका निज नाम नहीं है। केवल गुणों के कारण अन्य नाम पड़े हैं जैसे विष्णु, शिव इत्यादि।

गायत्री के जप करने का समय

पूर्वां सन्ध्या जपन् तिष्ठेत्सावित्रीमर्कदर्शनात्।
पश्चिमां तु समासीनः यावदृक्षविभावनात्॥
—मनु० २।१०१

अर्थात् रात्रि समाप्त होने पर नक्षत्रों को आकाश में देखकर गायत्री का जप करने बैठे और सूर्योदय देखकर जप से उठे। इसी प्रकार दिन समाप्त होने पर सूर्य की लालिमा देखता हुआ गायत्री का जप करने बैठे और नक्षत्रोदय देखकर गायत्री के जप से उठे।

गायत्री जाप का फल

पूर्वां सन्ध्या जपंस्तिष्ठन् नैशमेनो व्यपोहति।
पश्चिमां तु समासीनो मलं हन्ति दिवाकृतम्॥
—मनु० २।१०२

अर्थात् प्रातः-सन्ध्या में जप करनेवाला गत सायङ्काल से प्रातः तक किये अज्ञानकृत पापों और वासनाओं को नष्ट करता है और सायं सन्ध्या में जप

करनेवाला दिन भर के अज्ञानकृत पापों और वासनाओं को दूर करता है।

एतदक्षरमेतां च जपन् व्याहृतिपूर्विकाम्।
सन्ध्ययोर्वेदविद् विप्रो वेदपुण्येन युज्यते॥

—मनु० २।७८

अर्थात् दोनों सन्ध्याओं के समय ओङ्कार व्याहृतिपूर्वक गायत्री का जप करनेवाला वेदज्ञ होता हुआ विद्वान् वेदज्ञान का पुण्य प्राप्त करता है।

सहस्रकृत्वस्त्वभ्यस्य बहिरेतत् त्रिकं द्विजः।
महतोऽप्येनसो मासात् त्वचेवाहिर्विमुच्यते॥

—मनु० २।८०

अर्थात् सन्ध्या के अतिरिक्त विशिष्ट जाप करनेवाला ओङ्कार व्याहृतिपूर्वक इस गायत्री का सहस्रशः जाप करता हुआ एकान्त में मास भर अनुष्ठान करे तो जैसे सर्प केचुली से निर्मुक्त हो जाता है, वैसे वह अनुष्ठाता बड़ी-से-बड़ी पाप वासनाओं से मुक्त होकर स्वच्छ हो जाता है।

मन से जप करना सर्वोत्तम है

उपांशुः स्याच्छत गुणः साहस्रो मानसः कृतः॥

—मनु० २।८५

अर्थात् उपांशु जाप सौ गुना फल देता है और मानस जाप हज़ार गुना फल देता है। अत्यन्त धीरे-धीरे उच्चारण करना जिसको पास बैठा भी न सुन सके वह उपांशु जाप कहाता है। और मन से जाप करना जिसमें जिह्वा और ओष्ठ भी नहीं हिलते वह मानस जाप कहाता है।

ऋषि और महर्षियों की परम्परा को मर्यादा पुरुषोत्तम राम और श्रीकृष्ण ने भी अपने जीवन में क्रियान्वित किया। वाल्मीकि रामायण में ईशस्तुति, प्रार्थना, उपासना, सन्ध्या (ब्रह्मयज्ञ), अग्निहोत्र (देवयज्ञ), मौन गायत्री ओ३म् का जप, प्राणायाम, स्वस्तिवाचन, श्रद्धापूर्वक गुरुओं का अभिवादन इत्यादि विश्वामित्र जी, श्रीराम, लक्ष्मण, सीता और माता कौशल्या जी प्रतिदिन प्रातःकाल उठकर प्रभु

का स्मरण, ओ३म्, गायत्री का जप, प्राणायाम और अग्निहोत्र आदि किया करते थे। स्वाध्याय प्रेमियों के लाभार्थ उल्लेख किया जाता है।

श्रीराम द्वारा प्रातःकाल उठना, सन्ध्या और अग्निहोत्र करना

रात्रि समाप्त होने पर विश्वामित्र जी सूखे पत्तों के बिछौने पर सोये हुए राम-लक्ष्मण से बोले—

कौशल्या सुप्रजा राम पूर्वा सन्ध्यां प्रवर्तते।
उत्तिष्ठ नर शार्दूल कर्त्तव्यं दैवमाह्निकम्॥

—बालकाण्ड ३३।२

हे कौशल्यानन्दन! नरशार्दूल राम! प्रातःकाल हो गया है, उठो और शौच, स्नान, सन्ध्या आदि से निवृत्त हो जाओ।

तस्यर्षेः परमोदारं वचः श्रुत्वा नरोत्तमौ।
स्नात्वा कृतोदकौ वीरौ जपतुः परमं जपम्॥

—बालकाण्ड २३।३

महर्षि विश्वामित्र के परमोदार वचन को सुनकर दोनों भाई (राम और लक्ष्मण) उठ गये, स्नान आदि से निवृत्त होकर परम जप गायत्री मन्त्र का जाप किया।

कुमारावपि तां रात्रिमुषित्वा सुसमाहितौ।
प्रभातकाले चोत्थाय पूर्वां सन्ध्यामुपास्य च॥
प्रशुची परमं जाप्यं समाप्य नियमेन च।
हुताग्निहोत्रमासीनं विश्वामित्रम् वन्दताम्॥

—बालकाण्ड २९वाँ सर्ग (३१-३२)

राम और लक्ष्मण दोनों राजकुमार सावधानी के साथ रात्रि व्यतीत करके प्रातःकाल उठे और सन्ध्योपासना की। अत्यन्त पवित्र होकर परम जप गायत्री का नियमपूर्वक उन्होंने जप किया और तत्पश्चात् अग्निहोत्र करके बैठे हुए गुरु विश्वामित्र की वन्दना की।

राम, लक्ष्मण और सीता द्वारा मौन व सन्ध्या

लक्ष्मणेन यदानीतं पीतं वारि महात्मना।
औपवास्यं तदाकार्षीत् राघवः सह सीतया॥
ततस्तु जलशेषेण लक्ष्मणोऽप्यकरोत्तदा।
वाग्यतास्ते त्रयः सन्ध्यां समुपासन्तः संहिताः॥

—अयोध्याकाण्ड सर्ग ८७ (१८-१९)

अर्थात् हे भरत! मुझ गुह के यहाँ श्रीराम जी ने लक्ष्मण द्वारा लाया गया जल मात्र ही सीता के साथ पिया। लक्ष्मण ने भी उस शेष जल को पिया, फिर तीनों (राम, लक्ष्मण और सीता) ने मिलकर मौन एवं एकाग्रचित्त हो सन्ध्या की।

श्रीराम और सीता के साथ उपासना

गते पुरोहिते रामः स्नातो नियतमानसः।
सह पत्न्या विशालाक्ष्या नारायणमुपागतम्॥

—अयोध्याकाण्ड ६।१

पुरोहित (वशिष्ठ जी) के चले जाने पर श्रीराम

स्नान करके शुद्ध मन से विशाल लोचना पत्नी सीता सहित नारायण के सन्ध्योपासन में लग गये।

श्रीराम द्वारा सन्ध्या

आश्वासितो लक्ष्मणेन रामः सन्ध्यामुपासत॥

—युद्धकाण्ड ५।२३

अर्थात् सीता के शोक से दुःखी राम ने लक्ष्मण द्वारा धैर्य बँधाने पर (आश्वासित) सन्ध्योपासना की।

सीता, कौशल्या द्वारा सन्ध्या, अग्निहोत्र, प्राणायाम और स्वस्तिवाचन

सन्ध्याकालमनाः श्यामा ध्रुवमेष्यति जानकी।
नदीं चेमां शुभजलां सन्ध्यार्थे वरवर्णिनी॥५०॥
यदि जीवति सा देवी ताराधिपनिभानना।
आगमिष्यति सा वश्यमिमां शीतलजलां नदीम्॥५१॥ —वा० रा०, सु०का० १४ सर्ग

अर्थात् सीता को खोजते हुए वीर हनुमान् अशोक वाटिका में एक पुण्यसलिला नदी को देखकर सोचते हैं—सन्ध्याकाल में मनवाली,

श्यामवर्णवाली, वरवर्णिनी सीता शुभ (सुन्दर) जलवाली नदी पर अवश्य ही आयेगी। यदि वह चन्द्रमुखी देवी जीवित है तो वह अवश्य ही इस शीतल जलवाली नदी पर आयेगी।

माता कौशल्या द्वारा यज्ञादि अनुष्ठान

प्राणायामेन पुरुषं ध्यायमाना जनार्दनम्।

—अयोध्याकाण्ड ४।३३

अर्थात् श्रीराम जब कौशल्या जी के भवन में गये उस समय कौशल्या नेत्र बन्द किये ध्यान लगाये बैठी थीं। (तस्मिन् कालेऽपि कौशल्या तस्थावामीलितेक्षणा॥ ४।३२) और प्राणायाम के द्वारा परम पुरुष नारायण का ध्यान कर रही थीं।

यज्ञ

सा क्षौमवसना हृष्टा नित्यं व्रतपरायणा।
अग्निं जुहोति स्म तदा मन्त्रवत् कृतमङ्गलम्॥

—वाल्मीकि रामायण, बालकाण्ड २०।१५

अर्थात् राममाता कौशल्या रेशमी कपड़े पहने हुए प्रसन्न हुई व्रतपरायण मङ्गलाचार गाती हुई

वेदमन्त्रों से अग्निहोत्र कर रही थी।

स्वस्तिवाचन

अतीव चाश्रुप्रतिपूर्ण लोचना, समाप्य च स्वस्त्ययनं यथाविधि। प्रदक्षिणं चापि चकार राघवं, पुनः पुनश्चापि निरीक्ष्य सस्वजे॥

—अयो० का० २५।४६

राममाता कौशल्या ने नेत्रों में अत्यन्त आँसू भरकर विधिपूर्वक स्वस्तिवाचन किया, श्रीराम की प्रदक्षिणा की और बार-बार उनकी ओर देखकर उन्हें हृदय से लगाया।

महाभारत में भीष्म पितामह द्वारा सन्ध्या करना

महाभारत में बालब्रह्मचारी भीष्म पितामह ने धर्मराज युधिष्ठिर को दीर्घायु प्राप्ति के साधन बतलाते हुए कहा है—

ऋषयो नित्यसन्ध्यत्वाद्दीर्घमायुरवाप्नुवन्।
तस्मात्तिष्ठेत्सदा पूर्वां पश्चिमां चैव वाग्यतः॥

—अनुशासन० अ० १०४, श्लोक १८

नित्य प्रति सन्ध्या करने से ऋषियों ने दीर्घ आयु प्राप्त की। इसलिए प्रातःकाल और सायङ्काल वाग्यत (मौन) होकर सन्ध्या करनी चाहिए।

अकृत्वा देवपूजां च नाचरेद् दन्तधावनम्।
अकृत्वा देवपूजां च नाभिगच्छेत्कदाचन॥

—महाभारत० अनु० अ० १०४ श्लोक १९

दातून किए बिना देवपूजा अर्थात् सन्ध्या न करे और सन्ध्या किए बिना कहीं इधर-उधर अपने कार्यों को करने के लिए न जावे।

महाभारत में योगिराज श्रीकृष्ण, अर्जुन, युधिष्ठिर और धृतराष्ट्र द्वारा सन्ध्या और अग्निहोत्र करना

अवतीर्य रथात् तूर्णं कृत्वा शौचं यथाविधि।
रथमोचनमादिश्य सन्ध्यामुपविशेष ह॥

—उद्योगपर्व ८३।२१

कृतोदकानुजप्यः स हुताग्निः समलङ्कृतः॥

—उद्योगपर्व ८३।६

ततः सन्ध्यामुपास्यैव वीरौ वीरावसादने।
कथयन्तौ रणे वृत्तं प्रभातौ रथमास्थितौ॥

—द्रोणपर्व ७२।८

सन्ध्या और हवन के श्रीकृष्ण पूरे निष्ठावान् थे। दूतकर्म पर जाते हुए रास्ते में साँझ हो गई। सन्ध्या हेतु ठहर गए। हस्तिनापुर में प्रातःकाल सभा में जाने से पहले सन्ध्या तथा अग्निहोत्र से निवृत्त हुए हैं। अभिमन्यु के वध के दिन सायङ्काल अपने शिविर में जाने से पूर्व कृष्ण और अर्जुन दोनों ने सन्ध्या की है।

युधिष्ठिर और धृतराष्ट्र की दिनचर्या में भी सन्ध्या और हवन का सर्वोत्कृष्ट स्थान है। इससे उस समय की धार्मिक निष्ठा पर उज्ज्वल प्रकाश पड़ता है।

महर्षि दयानन्द द्वारा सन्ध्या और यज्ञ का पुनः प्रचलन

पाँच हज़ार वर्षों से पञ्चमहायज्ञों का प्रचलन छूट गया था। ऋषि-महर्षि और मुनियों की सन्ध्या

और यज्ञ करने की परम्परा को पुनः महर्षि दयानन्द ने प्रारम्भ किया उसका साकार रूप आर्यसमाज और गुरुकुलों में आप सर्वत्र देखकर अपने जीवन को चरितार्थ कर सकते हैं। महर्षि दयानन्द सरस्वती ने पञ्चमहायज्ञविधि पुस्तक में सन्ध्या और यज्ञ का विधान निम्न प्रकार से किया है। आप अवलोकन कर सकते हैं।

सन्ध्या

ब्रह्मयज्ञ का दूसरा अङ्ग 'सन्ध्योपासना' है। 'सन्ध्या' शब्द का अर्थ करते हुए महर्षि ने 'पञ्चमहायज्ञविधिः' अथवा 'नित्यकर्मविधिः' में लिखा है—'**सन्ध्यायन्ति सन्ध्यायते वा परब्रह्म यस्यां सा सन्ध्या।**' अर्थात् 'भली-भाँति ध्यान करते हैं या जिसमें परमेश्वर का ध्यान किया जाए, वह सन्ध्या है।' सन्ध्या कब करनी चाहिए—इस विषय में वहाँ लिखा है—'**तत्र रात्रिन्दिवयोः सन्धिवेलायामुभयोस्सन्ध्ययोः सर्वैर्मनुष्यैरवश्यं**

परमेश्वरस्यैव स्तुतिप्रार्थनोपासनाः कार्याः॥ अर्थात् 'रात और दिन के संयोग समय दोनों सन्ध्याओं में सब मनुष्यों को परमेश्वर की स्तुति, प्रार्थना और उपासना करनी चाहिए।

महर्षि का यह मत सर्वथा शास्त्रसम्मत है। उदाहरणार्थ यहाँ कतिपय प्रमाण प्रस्तुत हैं—

१. **उप त्वाग्ने दिवे दिवे दोषावस्तर्धिया वयम्। नमो भरन्त एमसि॥** —ऋग्वेद १।१।७

हे (अग्ने) ईश्वर! (दिवे दिवे) प्रतिदिन (दोषावस्तः) सायं प्रातः [वस्त इत्यहर्वाचीति स्वामिदयानन्दः सायणोऽपि] (धिया) भक्ति से (नमः) नमस्कार (भरन्तः) करते हुए (वयम्) हम (उप त्वा) आपके समीप, आपकी शरण में (आ इमसि) आते हैं।

२. **तस्माद् ब्राह्मणोऽहोरात्रस्य संयोगे सन्ध्यामुपासीत। स ज्योतिष्याज्योतिषो दर्शनात् सोऽस्याः कालः 'सा सन्ध्या' तत् सन्ध्यायाः सन्ध्यात्वम्॥** —षड्विंशब्रा० ४।५

ब्रह्म का उपासक मनुष्य रात्रि और दिवस के सन्धि समय में नित्य उपासना करे। जो प्रकाश और अन्धकार का संयोग है, वही सन्ध्या का काल जानना और उस समय में सन्ध्योपासन की जो ध्यान क्रिया करनी होती है। इसी को सन्ध्योपासन कहते हैं।

३. उद्यन्तमस्तं यान्तमादित्यमभिध्यायन्कुर्वन् ब्राह्मणो विद्वान् सकलं भद्रमश्नुते॥

—तै०आ० प्रा० २ अ० २

जब सूर्य के उदय और अस्त का समय आवे, उसमें नित्य प्रकाशस्वरूप, आदित्य परमेश्वर की उपासना करता हुआ ब्रह्मोपासक मनुष्य ही सम्पूर्ण सुख को प्राप्त होता है।

४. पूर्वा सन्ध्यां जपंस्तिष्ठेत् सावित्रीमार्कदर्शनात्।
पश्चिमां तु समासीनः सम्यगृक्षविभावनात्॥

—मनु० २।१०१

दो घड़ी रात्रि से लेके सूर्योदय पर्यन्त प्रातः सन्ध्या और सूर्यास्त से लेके तारों के दर्शनपर्यन्त

सायंकाल में सविता अर्थात् सब जगत् की उत्पत्ति करनेवाले परमेश्वर की उपासना गायत्र्यादि मन्त्रों के अर्थ विचारपूर्वक नित्य करें।

५. ब्रह्मवादिनो वदन्ति कस्माद् ब्राह्मणः सायमासीनः सन्ध्यामुपास्ते कस्मात् प्रातस्तिष्ठन्।

—षड्विंशब्रा० ४।५

६. मनुस्मृति ने एक बार पुनः स्पष्ट करते हुए कहा—

पूर्वां सन्ध्यां जपंस्तिष्ठन्नैशमेनो व्यपोहति।
पश्चिमां तु समासीनो मलं हन्ति दिवा कृतम्॥

प्रातः सन्ध्या के जप से रात्रिभर की और सायं सन्ध्या से दिनभर की दुर्वासनाओं का नाश होता है।

उपर्युक्त प्रमाणों से सर्वथा स्पष्ट है कि सायं-प्रातः दो काल ही सन्ध्या करना शास्त्रसम्मत एवं युक्तियुक्त है।

किसी-किसी का मत है कि सन्ध्या त्रिकाल—सायं, प्रातः तथा मध्याह्न करनी चाहिए। इसका

विवेचन करते हुए ग्रन्थकार ने सत्यार्थप्रकाश (समु० ४) में लिखा है—

प्रश्न—त्रिकाल सन्ध्या क्यों नहीं करना?

उत्तर—तीन समय में सन्धि नहीं होती। प्रकाश और अन्धकार की सन्धि भी सायं-प्रातः दो ही वेला में होती है। जो इसको न मानकर मध्याह्नकाल में तीसरी सन्ध्या माने वह मध्यरात्रि में भी सन्ध्योपासन क्यों न करे? जो मध्यरात्रि में भी करना चाहे, तो प्रहर-प्रहर, घड़ी-घड़ी, पल-पल और क्षण-क्षण क्यों न करे? जो ऐसा भी करना चाहे, तो हो ही नहीं सकता और किसी शास्त्र का मध्याह्न सन्ध्या में प्रमाण भी नहीं। इसलिए दोनों कालों में सन्ध्या और अग्निहोत्र करना उचित है, तीसरे काल में नहीं।

न तिष्ठति तु यः पूर्वां नोपास्ते यश्च पश्चिमाम्।
स साधुभिर्बहिष्कार्यः सर्वस्माद् द्विजकर्मणः॥

—मनु० २।१०३

अर्थात् जो मनुष्य सायं-प्रातः सन्ध्योपासन नहीं करता, उसे सज्जन पुरुष द्विजकर्मों से बाहर कर दें, उससे शूद्रवत् व्यवहार करें।

इसका अनुमोदन करते हुए बौधायनधर्मसूत्र (२।४।२०) में कहा है—

सायं प्रातः सदा सन्ध्यां ये विप्रा नोऽपासते।
कामं तान् धार्मिको राजा शूद्रकर्मसु योजयेत्॥

राजा को चाहिए कि सायं-प्रातः सन्ध्या न करनेवाले विप्र को शूद्र के योग्य कर्मों में लगा दे।

ग्रन्थकार ने पञ्चमहायज्ञविधि में तो यहाँ तक लिखा है कि ऐसे व्यक्ति को विद्या के चिह्न यज्ञोपवीत को धारण करने के अधिकार से वञ्चित कर दें और वह सेवा कर्म किया करे।

महर्षि दयानन्द सरस्वती ने सन्ध्या में मुख्य रूप से नव कर्म-विधि विहित माना है।

(१) गायत्री मन्त्र—जप व शिखाबन्धन

(२) आचमन से—शरीर

(३) इन्द्रियस्पर्श और मार्जन से—इन्द्रियाँ
(४) प्रणायाम से—मन
(५) अघमर्षण से—बुद्धि
(६) मनसा-परिक्रमा से—चित्त
(७) उपस्थान से—अहंकार
(८) समर्पण से—ईश प्राप्ति
(९) नमस्कार से—ईश प्राप्ति

इत्यादि सन्ध्या में इन अङ्गों को माना है।

वैदिक-सन्ध्या

सर्वप्रथम शरीर-शुद्धि, अर्थात् स्नान पर्यन्त कर्म करके न्यूनातिन्यून तीन प्राणायाम करें।

शिखा-बन्धनम्

नीचे लिखे मन्त्र से चोटी में गाँठ लगावें—

अथ गायत्री-मन्त्र

ओ३म्, भूर्भुवः स्वः। तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि। धियो यो नः प्रचोदयात्॥

—यजुः० अ० ३६, मं० ३

अथ आचमन-मन्त्रः

निम्न मन्त्र को एक बार बोलकर तीन आचमन करें—

ओं शन्नो देवीरभिष्टयऽआपो भवन्तु पीतये।
शंयोरभिस्रवन्तु नः॥

—यजुः० अ० ३६। मं० १२

अथ इन्द्रियस्पर्श-मन्त्राः

निम्नलिखित मन्त्रों से बाईं हथेली में जल लेकर दाहिने हाथ की मध्यमा तथा अनामिका अंगुली से जल द्वारा इन्द्रियस्पर्श करें—

ओं वाक् वाक्। इससे मुख।

ओं प्राणः प्राणः। इससे नासिका (दाहिनी व बाईं)।

ओं चक्षुश्चक्षुः। इससे दोनों नेत्र (दाहिना व बायाँ)।

ओं श्रोत्रं श्रोत्रम्। इससे दोनों कान (दाहिना व बायाँ)।

ओं नाभिः। इससे नाभि।

ओं हृदयम्। इससे हृदय।

ओं कण्ठः। इससे कण्ठ।

ओं शिरः। इससे शिर।

ओं बाहुभ्यां यशोबलम्।
इससे दोनों भुजाएँ (दाहिनी व बाईं)।

ओं करतलकरपृष्ठे।
इससे दोनों हथेली तथा उनके ऊपरी भाग।

अथ मार्जन-मन्त्राः

इसी प्रकार निम्न मन्त्रों से अङ्गों पर जल के छींटे देवें—

ओं भूः पुनातु शिरसि। इससे शिर।

ओं भुवः पुनातु नेत्रयोः।
इससे दोनों नेत्र (दाहिना व बायाँ)।

ओं स्वः पुनातु कण्ठे। इससे कण्ठ।

ओं महः पुनातु हृदये। इससे हृदय।

ओं जनः पुनातु नाभ्याम्। इससे नाभि।

ओं तपः पुनातु पादयोः।
इससे दोनों पैर (दाहिना व बायाँ)।

ओं सत्यं पुनातु पुनः शिरसि। इससे शिर।

ओं खं ब्रह्म पुनातु सर्वत्र। इससे सब शरीर पर।

अथ प्राणायाम-मन्त्राः

निम्न मन्त्रों से कम-से-कम तीन प्राणायाम करें—

ओं भूः। ओं भुवः। ओं स्वः। ओं महः।
ओं जनः। ओं तपः। ओं सत्यम्।

अथ अघमर्षण-मन्त्राः

ओ३म् ऋतं च सत्यं चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत।
ततो रात्र्यजायत ततः समुद्रोऽअर्णवः॥ १॥
समुद्रादर्णवादधि संवत्सरोऽअजायत।
अहोरात्राणि विदधद्विश्वस्य मिषतो वशी॥ २॥
सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्।
दिवं च पृथिवीं चान्तरिक्षमथो स्वः॥ ३॥
—ऋ० मं० १०। सू० १९०। मं० १-३

अथ आचमन-मन्त्रः

निम्न मन्त्र को एक बार बोलकर तीन आचमन करें—

ओ३म्। शन्नो देवीरभिष्टयऽआपो भवन्तु पीतये।
शंयोरभिस्रवन्तु नः॥ —यजुः० ३६।१२

तदनन्तर गायत्र्यादि मन्त्रों के अर्थ विचारपूर्वक परमेश्वर की स्तुति अर्थात् परमेश्वर के गुण और उपकार का ध्यान कर पश्चात् प्रार्थना करें।

अथ मनसापरिक्रमा-मन्त्राः

निम्न मन्त्रों से ईश्वर की व्यापकता का विचार करें—

ओम् प्राची दिगग्निरधिपतिरसितो रक्षितादित्या इषवः। तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु। यो३ऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः॥ १॥

दक्षिणा दिगिन्द्रोऽधिपतिस्तिरश्चिराजी रक्षिता पितर इषवः। तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु। यो३ऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः॥ २॥

प्रतीची दिग्वरुणोऽधिपतिः पृदाकू रक्षितान्नमिषवः। तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु। यो३ऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः॥ ३॥

उदीची दिक् सोमोऽधिपतिः स्वजो रक्षिताऽ-
शनिरिषवः। तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षि-
तृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु। योऽ३स्मान्
द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः॥ ४॥

ध्रुवा दिग्विष्णुरधिपतिः कल्माषग्रीवो रक्षिता
वीरुध इषवः। तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो
रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु। योऽ३स्मान्
द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः॥ ५॥

ऊर्ध्वा दिग्बृहस्पतिरधिपतिः श्वित्रो रक्षिता
वर्षमिषवः। तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो
रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु। योऽ३स्मान्
द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः॥ ६॥

—अथर्व० कां० ३। सू० २७। मं० १-६

अथोपस्थान-मन्त्राः

निम्न मन्त्रों से ईश्वर के तेजःस्वरूप का ध्यान करें।

ओम्। उद्वयन्तमसस्परि स्वः पश्यन्तऽ उत्तरम्।
देवन्देवत्रा सूर्यमगन्म ज्योतिरुत्तमम्॥ १॥

—यजुः० अ० ३५। मं० १४

उदु त्यञ्जातवेदसन्देवं वहन्ति केतवः। दृशे
विश्वाय सूर्यम्॥ २॥ —यजुः० अ० ३३। मं० ३१

चित्रन्देवानामुदगादनीकं चक्षुर्मित्रस्य वरुण-
स्याग्नेः। आप्रा द्यावापृथिवीऽअन्तरिक्षꣳ
सूर्यऽआत्मा जगतस्तस्थुषश्च स्वाहा॥ ३॥

—यजुः अ० ७। मं० ४२

तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत्। पश्येम शरदः
शतञ्जीवेम शरदः शतꣳ शृणुयाम शरदः
शतम्प्रब्रवाम शरदः शतमदीनाः स्याम शरदः
शतम्भूयश्च शरदः शतात्॥ ४॥

—यजुः० अ० ३६। मं० २४

अथ गुरु-मन्त्रः

निम्न मन्त्र का जाप करें—

ओम् भूर्भुवः स्वः। तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि। धियो यो नः प्रचोदयात्॥ ५॥

—यजुः० अ० ३६। मं० ३

अथ समर्पणम्

हे ईश्वर दयानिधे! भवत्कृपयाऽनेन जपोपासनादिकर्मणा धर्मार्थकाममोक्षाणां सद्यः सिद्धिर्भवेन्नः॥

अथ नमस्कार-मन्त्रः

निम्न मन्त्र से आत्म-समर्पण की भावना द्वारा ईश्वर को नमस्कार करें—

ओं नमः शम्भवाय च मयोभवाय च नमः शङ्कराय च मयस्कराय च नमः शिवाय च शिवतराय च॥ —यजुः० अ० १६। मं० ४१

इति सन्ध्योपासनाविधिः समाप्तः॥

यज्ञोपवीत बदलने के मन्त्र

ओ३म् यज्ञोपवीतं परमं पवित्रं प्रजापतेर्यत् सहजं पुरस्तात्। आयुष्यमग्र्यं प्रतिमुञ्च शुभ्रं यज्ञोपवीतं बलमस्तु तेजः॥ १॥

यज्ञोपवीतमसि यज्ञस्य त्वा यज्ञोपवीतेनोपनह्यामि॥ २॥

अग्निहोत्र-विधि

यज्ञ के लिए आवश्यक वस्तुएँ—

१. **समिधा**—पलाश, शमी, पीपल, वट, गूलर, बिल्व, आम आदि।

२. **पात्र**—स्रुवा, आज्यस्थाली (घृतपात्र), जल-पात्र, आचमनी, सामग्री रखने का पात्र, चिमटा तथा पङ्खा मुख्य हैं।

३. **सामग्री**—घृत, कपूर, दालचीनी, इलायची, जायफल, जावित्री गिलोय, तालीसपत्र, सफेद चन्दन, अगर, तगर, गूगल, पानड़ी, लोंग, छुआरा, नागरमोथा, इन्द्रजौ, नागकेसर, तुम्बर, सुपारी, देवदारु, तेजपत्र, शङ्खपुष्पी, छरीला, जटामांसी, खस, चिरायता, बावची आदि।

अथ ऋत्विग्वरणम्

यजमानोक्तिः—ओमावसो सदने सीद।

ऋत्विगुक्तिः—ओं सीदामि।

यजमानोक्तिः—ओ३म् तत्सत् श्रीब्रह्मणो द्वितीयप्रहरार्द्धे वैवस्वतमन्वन्तरेऽष्टाविंशतितमे (२८) कलियुगे कलिप्रथमचरणेऽमुक-संवत्सरे...अयने...ऋतौ...मासे...पक्षे...तिथौ... दिवसे...लग्ने...मुहूर्ते... अद्य अहम्...कर्मकरणाय भवन्तं वृणे।

ऋत्विगुक्तिः—वृतोऽस्मि।

अथ आचमन-मन्त्राः

निम्न मन्त्रों से दाहिने हाथ की हथेली में जल लेकर आचमन करें—

ओम् अमृतोपस्तरणमसि स्वाहा ॥ १ ॥ इससे एक।

ओम् अमृतापिधानमसि स्वाहा ॥ २ ॥ इससे दूसरा।

ओं सत्यं यशः श्रीर्मयि श्रीः श्रयतां स्वाहा ॥ ३ ॥ इससे तीसरा।

अथ अङ्ग-स्पर्श-मन्त्राः

निम्न मन्त्रों से बायीं हथेली में जल लेकर दाहिनी मध्यमा और अनामिका से अङ्गस्पर्श करें—

ओं वाङ् मऽआस्येऽस्तु ॥ इस मन्त्र से मुख।

ओं नसोर्मे प्राणोऽस्तु ॥ इस मन्त्र से नासिका के दोनों छिद्र।

ओम् अक्ष्णोर्मे चक्षुरस्तु ॥ इस मन्त्र से दोनों आँखें।

ओं कर्णयोर्मे श्रोत्रमस्तु ॥ इस मन्त्र से दोनों कान।

ओं बाह्वोर्मे बलमस्तु ॥ इस मन्त्र से दोनों बाहु।

ओम् ऊर्वोर्मेऽओजोऽस्तु ॥ इस मन्त्र से दोनों जङ्घा और

ओम् अरिष्टानि मेऽङ्गानि तनूस्तन्वा मे सह सन्तु ॥

इस मन्त्र से जल स्पर्श करके मार्जन करना (छींटे मारना)।

अथेश्वरस्तुतिप्रार्थनोपासनामन्त्राः

ओ३म् विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परा सुव। यद् भद्रन्तन्न आ सुव॥ १ ॥ —यजुः० ३०।३

अर्थ—हे सकल जगत् के उत्पत्तिकर्त्ता, समग्र ऐश्वर्ययुक्त, शुद्धस्वरूप, सब सुखों के दाता परमेश्वर! आप कृपा करके हमारे सम्पूर्ण दुर्गुण, दुर्व्यसन और दुःखों को दूर कर दीजिए, जो कल्याण-कारक गुण, कर्म, स्वभाव और पदार्थ हैं, वह सब हमको प्राप्त कीजिए॥ १ ॥

हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्। स दाधार पृथिवीन्द्यामुतेमाङ् कस्मै देवाय हविषा विधेम॥ २ ॥ —यजुः० १३।४

अर्थ—जो स्वप्रकाशस्वरूप और जिसने प्रकाश करनेवाले सूर्य-चन्द्रमादि पदार्थ उत्पन्न करके धारण किये हैं, जो उत्पन्न हुए सम्पूर्ण जगत् का प्रसिद्ध स्वामी एक ही चेतनस्वरूप था, जो सब जगत् के उत्पन्न होने से पूर्व वर्त्तमान था, वह इस भूमि और सूर्यादि को धारण कर रहा है, हम लोग

उस सुखस्वरूप शुद्ध परमात्मा के लिए ग्रहण करने योग्य योगाभ्यास और अतिप्रेम से विशेष भक्ति किया करें॥ २ ॥

य आत्मदा बलदा यस्य विश्व उपासते प्रशिषं यस्य देवाः। यस्य छायाऽमृतं यस्य मृत्युः कस्मै देवाय हविषा विधेम॥ ३ ॥ —यजुः० २५।१३

अर्थ—जो आत्मज्ञान का दाता, शरीर, आत्मा और समाज के बल का देनेवाला, जिसकी सब विद्वान् लोग उपासना करते हैं और जिसका प्रत्यक्ष, सत्यस्वरूप शासन और न्याय अर्थात् शिक्षा को मानते हैं, जिसका आश्रय ही मोक्षसुखदायक है, जिसका न मानना, अर्थात् भक्ति न करना ही मृत्यु आदि दुःख का हेतु है, हम लोग उस सुखस्वरूप, सकल ज्ञान के देनेवाले परमात्मा की प्राप्ति के लिए आत्मा और अन्तःकरण से भक्ति अर्थात् उसी की आज्ञा पालन करने में तत्पर रहें॥

यः प्राणतो निमिषतो महित्वैकऽइद्राजा जगतो बभूव। य ईशेऽअस्य द्विपदश्चतुष्पदः कस्मै देवाय हविषा विधेम॥ ४॥ —यजुः० २३।३

अर्थ—जो प्राणवाले और अप्राणिरूप जगत् का अपने अनन्त महिमा से एक ही विराजमान राजा है, जो इस मनुष्यादि और गौ आदि प्राणियों के शरीर की रचना करता है, हम लोग उस सुखस्वरूप सकलैश्वर्य के देनेवाले परमात्मा के लिए अपनी सकल उत्तम सामग्री से विशेष भक्ति करें॥ ४॥

येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृढा येन स्व स्तभितं येन नाकः। योऽअन्तरिक्षे रजसो विमानः कस्मै देवाय हविषा विधेम॥ ५॥ —यजुः० ३२। ६

अर्थ—जिस परमात्मा ने तीक्ष्ण स्वभाववाले सूर्य आदि और भूमि को धारण, जिस जगदीश्वर ने सुख को धारण और जिस ईश्वर ने दुःखरहित मोक्ष को धारण किया है, जो आकाश में सब लोक-लोकान्तरों को विशेष मानयुक्त अर्थात् जैसे आकाश में पक्षी उड़ते हैं, वैसे सब लोकों का निर्माण करता और भ्रमण कराता है, हम लोग उस सुखदायक कामना करने के योग्य परब्रह्म की प्राप्ति के लिए सब सामर्थ्य से विशेष भक्ति करें॥ ५॥

प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो विश्वा जातानि परि ता बभूव। यत्कामास्ते जुहुमस्तन्नोऽअस्तु वयं स्याम पतयो रयीणाम्॥ ६॥ —ऋ० १०। १२१। १०

अर्थ—हे सब प्रजा के स्वामी परमात्मन्! आपसे भिन्न, दूसरा कोई उन, इन—सब उत्पन्न हुए जड़-चेतनादिकों को नहीं तिरस्कार करता है, अर्थात् आप सर्वोपरि हैं। जिस-जिस पदार्थ की कामनावाले हम लोग आपका आश्रय लेवें और वाञ्छा करें, उस-उसकी कामना हमारी सिद्ध होवे, जिससे हम लोग धनैश्वर्यों के स्वामी होवें॥ ६॥

स नो बन्धुर्जनिता स विधाता धामानि वेद भुवनानि विश्वा। यत्र देवाऽअमृतमानशानास्तृतीये धामन्नध्यैरयन्त॥ ७॥ —यजुः० ३२। १०

अर्थ—हे मनुष्यो! वह परमात्मा अपने लोगों का भ्राता के समान सुखदायक, सकल जगत् का उत्पादक, वह सब कामों का पूर्ण करनेवाला, सम्पूर्ण लोकमात्र और नाम, स्थान, जन्मों को जानता है और जिस सांसारिक सुख-दुःख से रहित, नित्यानन्दयुक्त मोक्षस्वरूप धारण करनेवाले परमात्मा

में मोक्ष को प्राप्त होके विद्वान् लोग स्वेच्छापूर्वक विचरते हैं, वही परमात्मा अपना गुरु, आचार्य, राजा और न्यायाधीश है, अपने लोग मिलके सदा उसकी भक्ति किया करें ॥ ७ ॥

अग्ने नय सुपथा रायेऽअस्मान् विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्। युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठान्ते नमऽउक्तिं विधेम ॥ ८ ॥

—यजुः० ४०। १६

अर्थ—हे स्वप्रकाश, ज्ञानस्वरूप, सब जगत् के प्रकाश करनेवाले, सकल सुखदाता परमेश्वर! आप जिससे सम्पूर्ण विद्यायुक्त हैं, कृपा करके हम लोगों को विज्ञान वा राज्यादि ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिए अच्छे, धर्मयुक्त, आप्त लोगों के मार्ग से सम्पूर्ण प्रज्ञान और उत्तम कर्म प्राप्त कराइए और हम से कुटिलतायुक्त पापरूप कर्म को दूर कीजिए। इस कारण हम लोग आपकी बहुत प्रकार की स्तुतिरूप नम्रतापूर्वक प्रशंसा सदा किया करें और सर्वदा आनन्द में रहें ॥ ८ ॥

इतीश्वरस्तुतिप्रार्थनोपासनाप्रकरणम्।

अथ स्वस्तिवाचनम्

**अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम्।
होतारं रत्नधातमम् ॥ १ ॥** —ऋ० १। १। १

**स नः पितेव सूनवेऽग्ने सूपायनो भव।
सचस्वा नः स्वस्तये ॥ २ ॥** —ऋ० १। १। ९

स्वस्ति नो मिमीतामश्विना भगः स्वस्ति देव्यदितिरनर्वणः। स्वस्ति पूषा असुरो दधातु नः स्वस्ति द्यावापृथिवी सुचेतुना ॥ ३ ॥ —ऋ० ५। ५१। ११

स्वस्तये वायुमुप ब्रवामहै सोमं स्वस्ति भुवनस्य यस्पतिः। बृहस्पतिं सर्वगणं स्वस्तये स्वस्तय आदित्यासो भवन्तु नः ॥ ४ ॥ —ऋ० ५। ५१। १२

विश्वे देवा नो अद्या स्वस्तये वैश्वानरो वसुरग्निः स्वस्तये। देवा अवन्त्वृभवः स्वस्तये स्वस्ति नो रुद्रः पात्वंहसः ॥ ५ ॥ —ऋ० ५। ५१। १३

स्वस्ति मित्रावरुणा स्वस्ति पथ्ये रेवति। स्वस्ति न इन्द्रश्चाग्निश्च स्वस्ति नो अदिते कृधि ॥ ६ ॥

—ऋ० ५। ५१। १४

स्वस्ति पन्थामनु चरेम सूर्याचन्द्रमसाविव।
पुनर्ददताघ्नता जानता सं गमेमहि॥ ७॥

—ऋ० ५।५१।१५

ये देवानां यज्ञिया यज्ञियानां मनोर्यजत्रा अमृता ऋतज्ञाः। ते नो रासन्तामुरुगायमद्य यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः॥ ८॥ —ऋ० ७।३५।१५

येभ्यो माता मधुमत्पिन्वते पयः पीयूषं द्यौरदितिरद्रिबर्हाः। उक्थशुष्मान् वृषभरान्त्स्वप्नसस्ताँ आदित्याँ अनु मदा स्वस्तये॥ ९॥

—ऋ० १०।६३।३

नृचक्षसो अनिमिषन्तो अर्हणा बृहद्देवासो अमृतत्वमानशुः। ज्योतीरथा अहिमाया अनागसो दिवो वर्ष्माणं वसते स्वस्तये॥ १०॥

—ऋ० १०।६३।४

सम्राजो ये सुवृधो यज्ञमाययुरपरिह्वृता दधिरे दिवि क्षयम्। ताँ आ विवास नमसा सुवृक्तिभिर्महो आदित्याँ अदितिं स्वस्तये॥ ११॥

—ऋ० १०।६३।५

को वः स्तोमं राधति यं जुजोषथ विश्वे देवासो मनुषो यति ष्ठन। को वोऽध्वरं तुविजाता अरं करद्यो नः पर्षदत्यंहः स्वस्तये॥ १२॥

—ऋ० १०।६३।६

येभ्यो होत्रां प्रथमामायेजे मनुः समिद्धाग्निर्मनसा सप्त होतृभिः। त आदित्या अभयं शर्म यच्छत सुगा नः कर्त सुपथा स्वस्तये॥ १३॥

—ऋ० १०।६३।७

य ईशिरे भुवनस्य प्रचेतसो विश्वस्य स्थातुर्जगतश्च मन्तवः। ते नः कृतादकृतादेनसस्पर्यद्या देवासः पिपृता स्वस्तये॥ १४॥ —ऋ० १०।६३।८

भरेष्विन्द्रं सुहवं हवामहेऽंहोमुचं सुकृतं दैव्यं जनम्। अग्निं मित्रं वरुणं सातये भगं द्यावापृथिवी मरुतः स्वस्तये॥ १५॥ —ऋ० १०।६३।९

सुत्रामाणं पृथिवीं द्यामनेहसं सुशर्माणमदितिं सुप्रणीतिम्। दैवीं नावं स्वरित्रामनागसमस्रवन्तीमा रुहेमा स्वस्तये॥ १६॥

—ऋ० १०।६३।१०

विश्वे यजत्रा अधि वोचतोतये त्रायध्वं नो दुरेवाया अभिहुतः। सत्यया वो देवहूत्या हुवेम शृण्वतो देवा अवसे स्वस्तये॥ १७॥

—ऋ० १०।६३।११

अपामीवामप विश्वामनाहुतिमपारातिं दुर्विदत्रामघायतः। आरे देवा द्वेषो अस्मद्युयोतनोरु णः शर्म यच्छता स्वस्तये॥ १८॥

—ऋ० १०।६३।१२

अरिष्टः स मर्तो विश्व एधते प्र प्रजाभिर्जायते धर्मणस्परि। यमादित्यासो नयथा सुनीतिभिरति विश्वानि दुरिता स्वस्तये॥ १९॥

—ऋ० १०।६३।१३

यं देवासोऽवथ वाजसातौ यं शूरसाता मरुतो हिते धने। प्रातर्यावाणं रथमिन्द्र सानसिमरिष्यन्तमा रुहेमा स्वस्तये॥ २०॥

—ऋ० १०।६३।१४

स्वस्ति नः पथ्यासु धन्वसु स्वस्त्यप्सु वृजने स्वर्वति। स्वस्ति नः पुत्रकृथेषु योनिषु स्वस्ति

राये मरुतो दधातन॥ २१॥ —ऋ० १०।६३।१५

स्वस्तिरिद्धि प्रपथे श्रेष्ठा रेक्णस्वत्यभि या वाममेति। सा नो अमा सो अरणे नि पातु स्वावेशा भवतु देवगोपा॥ २२॥ —ऋ० १०।६३।१६

इषे त्वोर्जे त्वा वायव स्थ देवो वः सविता प्रार्पयतु श्रेष्ठतमाय कर्मणऽआप्यायध्वमघ्न्याऽइन्द्राय भागं प्रजावतीरनमीवाऽअयक्ष्मा मा व स्तेनऽईशत माघशꣳसो ध्रुवाऽअस्मिन् गोपतौ स्यात बह्वीर्यजमानस्य पशून् पाहि॥ २३॥

—यजुः० १।१

आ नो भद्राः क्रतवो यन्तु विश्वतोऽदब्धासोऽअपरीतासऽउद्भिदः। देवा नो यथा सदमिद्वृधेऽअसन्नप्रायुवो रक्षितारो दिवेदिवे॥ २४॥

—यजुः० २५।१४

देवानां भद्रा सुमतिर्ऋजूयतां देवानाꣳ रातिरभि नो निवर्तताम्। देवानाꣳ सख्यमुपसेदिमा वयं देवा नऽआयुः प्रतिरन्तु जीवसे॥ २५॥

—यजुः० २५।१५

तमीशानं जगतस्तस्थुषस्पतिं धियञ्जिन्वमवसे हूमहे वयम्। पूषा नो यथा वेदसामसद्वृधे रक्षिता पायुरदब्धः स्वस्तये॥ २६ ॥ —यजुः० २५।१८

स्वस्ति नऽ इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः। स्वस्ति नस्तार्क्ष्योऽअरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु॥ २७॥ —यजुः० २५।१९

भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः। स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवाꣳसस्तनूभिर्व्यशेमहि देवहितं यदायुः॥ २८॥ —यजुः० २५।२१

अग्न आ याहि वीतये गृणानो हव्यदातये।
नि होता सत्सि बर्हिषि॥ २९॥—साम०पू० १।१।१

त्वमग्ने यज्ञानां होता विश्वेषां हितः।
देवेभिर्मानुषे जने॥ ३०॥—साम० पू० १।१।२

ये त्रिषप्ताः परियन्ति विश्वा रूपाणि बिभ्रतः।
वाचस्पतिर्बला तेषां तन्वो अद्य दधातु मे॥ ३१॥

—अथर्व० १।१।१

॥ इति स्वस्तिवाचनम्॥

अथ शान्तिकरणम्

शं न इन्द्राग्नी भवतामवोभिः शं न इन्द्रावरुणा रातहव्या। शमिन्द्रासोमा सुविताय शं योः शं न इन्द्रापूषणा वाजसातौ॥ १॥ —ऋ० ७।३५।१

शं नो भगः शमु नः शंसो अस्तु शं नः पुरन्धिः शमु सन्तु रायः। शं नः सत्यस्य सुयमस्य शंसः शं नो अर्यमा पुरुजातो अस्तु॥ २॥

—ऋ० ७।३५।२

शं नो धाता शमु धर्ता नो अस्तु शं न उरूची भवतु स्वधाभिः। शं रोदसी बृहती शं नो अद्रिः शं नो देवानां सुहवानि सन्तु॥ ३॥

—ऋ० ७।३५।३

शं नो अग्निर्ज्योतिरनीको अस्तु शं नो मित्रावरुणावश्विना शम्। शं नः सुकृतां सुकृतानि सन्तु शं न इषिरो अभि वातु वातः॥ ४॥

—ऋ० ७।३५।४

शं नो द्यावापृथिवी पूर्वहूतौ शमन्तरिक्षं दृशये नो अस्तु। शं न ओषधीर्वनिनो भवन्तु शं नो रजसस्पतिरस्तु जिष्णुः ॥ ५ ॥ —ऋ० ७।३५।५

शं न इन्द्रो वसुभिर्देवो अस्तु शमादित्येभिर्वरुणः सुशंसः। शं नो रुद्रो रुद्रेभिर्जलाषः शं नस्त्वष्टा ग्नाभिरिह शृणोतु ॥ ६ ॥ —ऋ० ७।३५।६

शं नः सोमो भवतु ब्रह्म शं नः शं नो ग्रावाणः शमु सन्तु यज्ञाः। शं नः स्वरूणां मितयो भवन्तु शं नः प्रस्व१ः शम्वस्तु वेदिः ॥ ७ ॥

—ऋ० ७।३५।७

शं न सूर्य उरुचक्षा उदेतु शं नश्चतस्त्रः प्रदिशो भवन्तु। शं नः पर्वता ध्रुवयो भवन्तु शं नः सिन्धवः शमु सन्त्वापः ॥ ८ ॥ —ऋ० ७।३५।८

शं नो अदितिर्भवतु व्रतेभिः शं नो भवन्तु मरुतः स्वर्काः। शं नो विष्णुः शमु पूषा नो अस्तु शं नो भवित्रं शम्वस्तु वायुः ॥ ९ ॥ —ऋ० ७।३५।९

शं नो देवः सविता त्रायमाणः शं नो भवन्तूषसो विभातीः। शं नः पर्जन्यो भवतु प्रजाभ्यः शं नः क्षेत्रस्य पतिरस्तु शम्भुः ॥ १० ॥ —ऋ० ७।३५।१०

शं नो देवा विश्वदेवा भवन्तु शं सरस्वती सह धीभिरस्तु। शमभिषाचः शमु रातिषाचः शं नो दिव्याः पार्थिवाः शं नो अप्याः ॥ ११ ॥

—ऋ० ७।३५।११

शं नः सत्यस्य पतयो भवन्तु शं नो अर्वन्तः शमु सन्तु गावः। शं न ऋभवः सुकृतः सुहस्ताः शं नो भवन्तु पितरो हवेषु ॥ १२ ॥ —ऋ० ७।३५।१२

शं नो अज एकपाद् देवो अस्तु शं नोऽहिर्बुध्न्य१ः शं समुद्रः। शं नो अपां नपात्पेरुरस्तु शं नः पृश्निर्भवतु देवगोपा ॥ १३ ॥ —ऋ० ७।३५।१३

इन्द्रो विश्वस्य राजति। शन्नोऽअस्तु द्विपदे शं चतुष्पदे ॥ १४ ॥ —यजुः० ३६।८

शन्नो वातः पवताᳯ शन्नस्तपतु सूर्य्यः। शन्नः
कनिक्रदद् देवः पर्जन्योऽअभि वर्षतु ॥ १५ ॥

—यजुः० ३६।१०

अहानि शम्भवन्तु नः शᳯ रात्रीः प्रति धीयताम्।
शन्न इन्द्राग्नी भवतामवोभिः शन्नऽइन्द्रावरुणा
रातहव्या। शन्न इन्द्रापूषणा वाजसातौ शमिन्द्रा-
सोमा सुविताय शँ योः ॥ १६ ॥ —यजुः० ३६।११

शन्नो देवीरभिष्टयऽआपो भवन्तु पीतये।
शँयोरभिस्रवन्तु नः ॥ १७ ॥ —यजुः० ३६।१२

द्यौः शान्तिरन्तरिक्षᳯ शान्तिः पृथिवी शान्तिरापः
शान्तिरोषधयः शान्तिः। वनस्पतयः शान्तिर्विश्वे
देवाः शान्तिर्ब्रह्म शान्तिः सर्वᳯ शान्तिः शान्तिरेव
शान्तिः सा मा शान्तिरेधि ॥ १८ ॥

—यजुः० ३६।१७

तच्चक्षुर्देवहितम्पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत्। पश्येम शरदः
शतं जीवेम शरदः शतᳯ शृणुयाम शरदः

शतम्प्रब्रवाम शरदः शतमदीनाः स्याम शरदः
शतम्भूयश्च शरदः शतात् ॥ १९ ॥

—यजुः० ३६।२४

यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवं तदु सुप्तस्य तथैवैति।
दूरङ्गमञ्ज्योतिषां ज्योतिरेकं तन्मे मनः शिव-
सङ्कल्पमस्तु ॥ २० ॥ —यजुः० ३४।१

येन कर्माण्यपसो मनीषिणो यज्ञे कृण्वन्ति
विदथेषु धीराः। यदपूर्वं यक्षमन्तः प्रजानां तन्मे
मनः शिवसङ्कल्पमस्तु ॥ २१ ॥ —यजुः० ३४।२

यत्प्रज्ञानमुत चेतो धृतिश्च यज्ज्योतिरन्तर-
मृतम्प्रजासु। यस्मान्न ऋते किञ्चन कर्म क्रियते
तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु ॥ २२ ॥

—यजुः० ३४।३

येनेदम्भूतं भुवनम्भविष्यत् परिगृहीतममृतेन
सर्वम्। येन यज्ञस्तायते सप्तहोता तन्मे मनः
शिवसङ्कल्पमस्तु ॥ २३ ॥ —यजुः० ३४।४

यस्मिन्नृचः साम यजूंषि यस्मिन् प्रतिष्ठिता रथनाभाविवाराः। यस्मिँश्चित्तं सर्वमोतम्प्रजानां तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु ॥ २४ ॥

—यजुः० ३४।५

सुषारथिरश्वानिव यन्मनुष्यान् नेनीयतेऽभीशुभिर्वाजिनइव। हृत्प्रतिष्ठं यदजिरं जविष्ठं तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु ॥ २५ ॥ —यजुः० ३४।६

स नः पवस्व शं गवे शं जनाय शमर्वते।
शं राजन्नोषधीभ्यः ॥ २६ ॥ —साम०उत्तरा० १।१।३

अभयं नः करत्यन्तरिक्षमभयं द्यावापृथिवी उभे इमे। अभयं पश्चादभयं पुरस्तादुत्तरादधरादभयं नो अस्तु ॥ २७ ॥ —अथर्व० १९।१५।५

अभयं मित्रादभयममित्रादभयं ज्ञातादभयं परोक्षात्। अभयं नक्तमभयं दिवा नः सर्वा आशा मम मित्रं भवन्तु ॥ २८ ॥ —अथर्व० १९।१५।६

॥ इति शान्तिकरणम् ॥

अथ दैनिक-यज्ञः

अथ अग्नि-प्रज्वालन-मन्त्र

निम्न मन्त्र से समिधाओं को घृत-दीप से कपूर जलाकर प्रज्वलित करें—

अग्न्याधानम्

ओं भूर्भुवः स्वः। —गोभिलगृह्य० १।१।११

निम्न मन्त्र पढ़कर वेदी के बीच अग्नि को धरकर उस पर कपूर व काष्ठ रखें—

ओं भूर्भुवः स्वर्द्यौरिव भूम्ना पृथिवीव वरिम्णा। तस्यास्ते पृथिवि देवयजनि पृष्ठेऽग्निमन्नादमन्नाद्यायादधे ॥ —यजुः० ३।५

अथ अग्निप्रदीप्ति-मन्त्र

ओम् उद्बुध्यस्वाग्ने प्रतिजागृहि त्वमिष्टापूर्त्ते सꣳसृजेथामयं च। अस्मिन्त्सधस्थेऽ अध्युत्तरस्मिन् विश्वे देवा यजमानश्च सीदत ॥ —यजुः० १५।५४

अथ समिदाधान-मन्त्र

निम्न मन्त्रों से आठ-आठ अंगुल की तीन समिधाएँ घृत में डुबा, उनमें से एक-एक मन्त्र से एक-एक समिधा को अग्नि में चढ़ावें—

ओम् अयन्त इध्म आत्मा जातवेदस्तेनेध्यस्व वर्द्धस्व चेद्ध वर्धय चास्मान् प्रजया पशुभिर्ब्रह्म-वर्चसेनान्नाद्येन समेधय स्वाहा॥ इदमग्नये जातवेदसे—इदन्न मम॥ १॥

—आश्व० गृ० सू० १।१०।१२

(इस मन्त्र से एक)

ओं समिधाग्निं दुवस्यत घृतैर्बोधयतातिथिम्। आस्मिन् हव्या जुहोतन स्वाहा॥ इदमग्नये—इदन्न मम॥ २॥

इससे, और

सुसमिद्धाय शोचिषे घृतं तीव्रं जुहोतन। अग्नये जातवेदसे स्वाहा। इदमग्नये जातवेदसे—इदन्न मम॥ ३॥

—यजुः० ३।१-२

इस मन्त्र से अर्थात् दोनों मन्त्रों से दूसरी समिधा चढ़ाएँ।

तन्त्वा समिद्भिरङ्गिरो घृतेन वर्द्धयामसि। बृहच्छोचा यविष्ठ्य स्वाहा॥ इदमग्नयेऽङ्गिरसे—इदन्न मम।

—यजुः० ३।३

इस मन्त्र से तीसरी समिधा की आहुति देवें।

पञ्चघृताहुतयः

ओम् अयन्त इध्म आत्मा जातवेदस्तेनेध्यस्व वर्धस्व चेद्ध वर्द्धय चास्मान् प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेनान्नाद्येन समेधय स्वाहा॥ इदमग्नये जातवेदसे—इदन्न मम।

—आश्व० गृह्य० १।१०।१२

जलसिञ्चनम्

ओम् अदितेऽनुमन्यस्व॥ —गोभि० गृह्य० १।३।१

इस मन्त्र से पूर्व दिशा में जल छिड़कें।

ओम् अनुमतेऽनुमन्यस्व॥ —गोभि० गृह्य० १।३।२

इस मन्त्र से पश्चिम दिशा में जल छिड़कें।

ओं सरस्वत्यनुमन्यस्व ॥ —गोभि० गृह्य० १।३।३

इस मन्त्र से उत्तर दिशा में जल छिड़कें।

ओं देव सवितः प्रसुव यज्ञं प्रसुव यज्ञपतिं भगाय। दिव्यो गन्धर्वः केतपूः केतं नः पुनातु वाचस्पतिर्वाचं नः स्वदतु ॥ —यजुः० ३०।१

इस मन्त्र से वेदी के चारों ओर जल छिड़काएँ।

आघारावाज्यभागाहुतयः

(घृताहुतियाँ)

निम्न मन्त्रों से यज्ञ-कुण्ड के उत्तर व दक्षिण में एक-एक घृताहुति दें—

ओम् अग्नये स्वाहा ॥ इदमग्नये—इदन्न मम ॥

—यजुः० १०।५

इस मन्त्र से वेदी के उत्तरभाग में अग्नि पर आहुति दें।

ओम् सोमाय स्वाहा ॥ इदं सोमाय—इदन्न मम।

—यजुः० १०।५

इस मन्त्र से वेदी के दक्षिणभाग में प्रज्वलित समिधाओं पर आहुति दें—

आज्यभागाहुति-मन्त्र

निम्न मन्त्रों से वेदी के मध्य में दो आहुतियाँ देवें—

ओम् प्रजापतये स्वाहा ॥ इदं प्रजापतये—इदन्न मम। —यजुः० २२।३२

ओम् इन्द्राय स्वाहा ॥ इदमिन्द्राय—इदन्न मम ॥

—यजुः० २२।६

इन दोनों मन्त्रों से वेदी के मध्य में दो आहुति दें।

प्रातःकालीन प्रधान होम-मन्त्राः

(घृत और सामग्री से)

ओं सूर्यो ज्योतिर्ज्योतिः सूर्यः स्वाहा ॥

ओं सूर्यो वर्चो ज्योतिर्वर्चः स्वाहा ॥

ओं ज्योतिः सूर्यः सूर्यो ज्योतिः स्वाहा ॥

ओं सजूर्देवेन सवित्रा सजूरुषसेन्द्रवत्या। जुषाणः सूर्यो वेतु स्वाहा ॥ —यजुः० ३।९-१०

उभयकालीन-मन्त्राः

ओं भूरग्नये प्राणाय स्वाहा।
इदमग्नये प्राणाय—इदन्न मम॥ १॥
ओं भुवर्वायवेऽपानाय स्वाहा॥
इदं वायवेऽपानाय—इदन्न मम॥ २॥
ओं स्वरादित्याय व्यानाय स्वाहा।
इदमादित्याय व्यानाय—इदन्न मम॥ ३॥
ओं भूर्भुवः स्वरग्निवाय्वादित्येभ्यः प्राणापान-व्यानेभ्यः स्वाहा॥ इदमग्निवाय्वादित्येभ्यः प्राणापानव्यानेभ्यः—इदन्न मम॥ ४॥
ओम् आपो ज्योती रसोऽमृतं ब्रह्म भूर्भुवः स्वरों स्वाहा॥ ५॥
ओं यां मेधां देवगणाः पितरश्चोपासते।
तया मामद्य मेधयाऽग्ने मेधाविनं कुरु स्वाहा॥ ६॥

—यजुः० ३२।१४

ओं विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परा सुव। यद् भद्रन्तन्न आ सुव स्वाहा॥ ७॥—यजुः० ३०।३

ओम् अग्ने नय सुपथा रायेऽअस्मान् विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्। युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठान्ते नमऽउक्तिं विधेम स्वाहा॥

—यजुः० ४०।१६

सायंकालीन प्रधान होम-मन्त्राः

ओम् अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः स्वाहा॥ १॥
ओम् अग्निर्वर्चो ज्योतिर्वर्चः स्वाहा॥ २॥
ओम् अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः स्वाहा॥ ३॥

—यजुः० ३।९

इस मन्त्र का मन में उच्चारण करके तीसरी आहुति देनी।

ओम् सजूर्देवेन सवित्रा सजू रात्र्येन्द्रवत्या।
जुषाणोऽअग्निर्वेतु स्वाहा॥ ४॥ —यजुः० ३।१०
ओं भूरग्नये प्राणाय स्वाहा॥ १॥ इद०
ओं भुवर्वायवेऽपानाय स्वाहा॥ २॥ इद०
ओं स्वरादित्याय व्यानाय स्वाहा॥ ३॥ इद०

ओं भूर्भुवः स्वरग्निवाय्वादित्येभ्यः प्राणापान-
व्यानेभ्यः स्वाहा ॥ ४ ॥ इद०

ओम् आपो ज्योती रसोऽमृतं ब्रह्म भूर्भुवः स्वरों
स्वाहा ॥ ५ ॥

अथ पूर्णाहुति-प्रकरणम्

अथ आघारावाज्याहुति (केवल घृत से)

ओम् अग्नये स्वाहा ॥ इदमग्नये–इदन्न मम ॥

इससे वेदी के उत्तर भाग में।

ओं सोमाय स्वाहा ॥ इदं सोमाय–इदन्न मम ॥

इससे वेदी के दक्षिण भाग में।

ओं प्रजापतये स्वाहा ॥

इदं प्रजापतये–इदन्न मम ॥

ओम् इन्द्राय स्वाहा ॥ इदमिन्द्राय–इदन्न मम ॥

इन दोनों मन्त्रों से वेदी के मध्य में।

व्याहृति-आहुति (केवल घृत से)

ओं भूरग्नये स्वाहा ॥ इदमग्नये–इदन्न मम ॥

ओं भुवर्वायवे स्वाहा ॥ इदं वायवे–इदन्न मम ॥

ओं स्वरादित्याय स्वाहा ॥

इदमादित्याय–इदन्न मम ॥

ओं भूर्भुवः स्वरग्निवाय्वादित्येभ्यः स्वाहा ॥

इदमग्निवाय्वादित्येभ्यः–इदन्न मम ॥

स्विष्टकृद्-आहुतिः

(केवल घृत अथवा भात से)

ओं यदस्य कर्मणोऽत्यरीरिचं यद्वा न्यूनमिहाकरम्।
अग्निष्टत् स्विष्टकृद् विद्यात् सर्वं स्विष्टं सुहुतं
करोतु मे। अग्नये स्विष्टकृते सुहुतहुते सर्व-
प्रायश्चित्ताहुतीनां कामानां समर्द्धयित्रे सर्वान्नः
कामान्त्समर्द्धय स्वाहा ॥ इदमग्नये स्विष्टकृते–
इदन्न मम ॥ —आश्व० १।१०।२२

प्राजापत्याहुतिमन्त्रः

(केवल घृत से, मौन रहकर)

ओं प्रजापतये स्वाहा ॥

इदं प्रजापतये–इदन्न मम ॥

चार आज्याहुतियाँ (केवल घृत से)

ओं भूर्भुवः स्वः। अग्न आयूंषि पवस आ सुवोर्जमिषं च नः ॥आरे बाधस्व दुच्छुनां स्वाहा ॥ इदमग्नये पवमानाय—इदन्न मम ॥ १ ॥

—ऋ० ९।६६।१९

ओं भूर्भुवः स्वः। अग्निर्ऋषिः पवमानः पाञ्चजन्यः पुरोहितः ॥तमीमहे महागयं स्वाहा ॥ इदमग्नये पवमानाय—इदन्न मम ॥ २ ॥

—ऋ० ९।६६।२०

ओं भूर्भुवः स्वः। अग्ने पवस्व स्वपा अस्मे वर्चः सुवीर्यम् ॥ दधद्रयिं मयि पोषं स्वाहा ॥ इदमग्नये पवमानाय—इदन्न मम ॥ ३ ॥

—ऋ० ९।६६।२१

ओं भूर्भुवः स्वः। प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो विश्वा जातानि परि ता बभूव। यत्कामास्ते जुहुमस्तन्नो अस्तु वयं स्याम पतयो रयीणां स्वाहा ॥ इदं प्रजापतये—इदन्न मम ॥ ४ ॥

—ऋ० १०।१२१।१०

अष्टाज्याहुतियाँ (केवल घृत से)

ओं त्वं नोऽअग्ने वरुणस्य विद्वान् देवस्य हेळोऽव यासिसीष्ठाः।यजिष्ठो वह्नितमः शोशुचानो विश्वा द्वेषांसि प्र मुमुग्ध्यस्मत् स्वाहा। इदमग्नीवरुणाभ्याम्—इदन्न मम ॥ १ ॥

—ऋ० ४।१।४

ओं स त्वं नो अग्नेऽवमो भवोती नेदिष्ठोऽअस्या उषसो व्युष्टौ। अव यक्ष्व नो वरुणं रराणो वीहि मृळीकं सुहवो न एधि स्वाहा ॥ इदमग्नी-वरुणाभ्याम्—इदन्न मम ॥ २ ॥ —ऋ० ४।१।५

ओम् इमं मे वरुण श्रुधी हवमद्या च मृळय। त्वामवस्युरा चके स्वाहा ॥ इदं वरुणाय—इदन्न मम ॥ ३ ॥ —ऋ० १।२५।१९

ओं तत्त्वा यामि ब्रह्मणा वन्दमानस्तदा शास्ते यजमानो हविर्भिः। अहेळमानो वरुणेह बोध्युरुशंस मा न आयुः प्र मोषीः स्वाहा ॥ इदं वरुणाय—इदन्न मम ॥ ४ ॥ —ऋ० १।२४।११

ओं ये ते शतं वरुण ये सहस्रं यज्ञिया पाशा वितता महान्तः। तेभिर्नोऽअद्य सवितोत विष्णुर्विश्वे मुञ्चन्तु मरुतः स्वर्काः स्वाहा॥ इदं वरुणाय सवित्रे विष्णवे विश्वेभ्यो देवेभ्यो मरुद्भ्यः स्वर्केभ्यः—इदन्न मम॥५॥

—कात्यायनश्रौत० २५।१।११

ओम् अयाश्चाग्नेऽस्यनभिशस्तिपाश्च सत्यमित्त्वमया असि। अया नो यज्ञं वहास्यया नो धेहि भेषजः स्वाहा॥ इदमग्नये अयसे—इदन्न मम॥६॥ —कात्यायनश्रौत० २५।१।११

ओम् उदुत्तमं वरुण पाशमस्मदवाधमं वि मध्यमं श्रथाय। अथा वयमादित्य व्रते तवानागसो अदितये स्याम स्वाहा॥ इदं वरुणायाऽऽदित्यायाऽदितये च—इदन्न मम॥७॥—ऋ० १।२४।१५

ओं भवतन्नः समनसौ सचेतसावरेपसौ। मा यज्ञः हिंसिष्टं मा यज्ञपतिं जातवेदसौ शिवौ भवतमद्य नः स्वाहा॥ इदं जातवेदोभ्याम्—इदन्न मम॥८॥

—यजुः० ५।३

निम्न गायत्री मन्त्र को तीन बार पढ़कर प्रत्येक बार एक-एक आहुति दें—

ओ३म् भूर्भुवः स्वः। तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि। धियो यो नः प्रचोदयात्॥५॥

—यजुः० अ० ३६। मं० ३

पूर्णाहुति

ओं सर्वं वै पूर्णꣳ स्वाहा॥

॥ इति यज्ञविधिः समाप्तः॥

वैदिक राष्ट्रीय-प्रार्थना

ओम् . आ ब्रह्मन् ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायतामा राष्ट्रे राजन्यः शूरऽइषव्योऽतिव्याधी महारथो जायतां दोग्ध्री धेनुर्वोढानड्वानाशुः सप्तिः पुरन्धिर्योषा जिष्णू रथेष्ठाः सभेयो युवास्य यजमानस्य वीरो जायतां निकामे निकामे नः पर्जन्यो वर्षतु फलवत्यो नऽओषधयः पच्यन्तां योगक्षेमो नः कल्पताम्॥ —यजु:० २२।२२

राष्ट्रीय-भजन

ब्रह्मन्! स्वराष्ट्र में हों द्विज ब्रह्म-तेजधारी।
क्षत्रिय महारथी हों अरिदल-विनाशकारी॥
होवें दुधारु गौएँ पशु अश्व आशुवाही।
आधार राष्ट्र की हों नारी सुभग सदा ही॥
बलवान् सभ्य योद्धा यजमान-पुत्र होवें।
इच्छानुसार वर्षें पर्जन्य ताप धोवें॥
फल-फूल से लदी हों औषध अमोघ सारी।
हो योगक्षेमकारी स्वाधीनता हमारी॥

यज्ञ-प्रार्थना

पूजनीय प्रभो हमारे भाव उज्ज्वल कीजिए।
छोड़ देवें छल कपट को मानसिक बल दीजिए॥
वेद की बोलें ऋचाएँ सत्य को धारण करें।
हर्ष में हों मग्न सारे शोक-सागर से तरें॥
पञ्चयज्ञादिक रचाएँ विश्व के उपकार को।
धर्म-मर्यादा चलाकर लाभ दें संसार को॥
नित्य श्रद्धा-भक्ति से यज्ञादि हम करते रहें।
रोग-पीड़ित विश्व के सन्ताप सब हरते रहें॥
भावना मिट जाए मन से पाप-अत्याचार की।
कामनाएँ पूर्ण होवें यज्ञ से नर-नारि की॥
लाभकारी हों हवन हर प्राणधारी के लिए।
वायु जल सर्वत्र हों शुभ गन्ध को धारण किये॥
स्वार्थ-भाव मिटे हमारा प्रेमपथ विस्तार हो।
'इदन्न मम' का सार्थक प्रत्येक में व्यवहार हो॥
हाथ जोड़ झुकाय मस्तक वन्दना हम कर रहे।
'नाथ' करुणारूप करुणा आपकी सबपर रहे॥

संगठनसूक्त

ओं संसमिद्युवसे वृषन्नग्ने विश्वान्यर्य आ।
इळस्पदे समिध्यसे स नो वसून्या भर॥ १॥

हे प्रभो! तुम शक्तिशाली हो बनाते सृष्टि को।
वेद सब गाते तुम्हें हैं कीजिए धन-वृष्टि को॥

सं गच्छध्वं सं वदध्वं सं वो मनांसि जानताम्।
देवा भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते॥ २॥

प्रेम से मिलकर चलो बोलो सभी ज्ञानी बनो।
पूर्वजों की भाँति तुम कर्तव्य के मानी बनो॥

समानो मन्त्रः समितिः समानी समानं मनः सह
चित्तमेषाम्। समानं मन्त्रमभि मन्त्रये वः समानेन
वो हविषा जुहोमि॥ ३॥

हों विचार समान सबके चित्त-मन सब एक हों।
ज्ञान देता हूँ बराबर भोग्य पा सब श्रेष्ठ हों॥

समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति॥ ४॥
—ऋ० १०।१९१।१-४

हों सभी के दिल तथा संकल्प अविरोधी सदा।
मन भरे हों प्रेम से जिससे बढ़े सुख-सम्पदा॥

शान्तिपाठः

ओ३म् द्यौः शान्तिरन्तरिक्षꣳ शान्तिः पृथिवी
शान्तिरापः शान्तिरोषधयः शान्तिः। वनस्पतयः
शान्तिर्विश्वे देवाः शान्तिर्ब्रह्म शान्तिः सर्वꣳ
शान्तिः शान्तिरेव शान्तिः सा मा शान्तिरेधि॥
ओ३म् शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥

Scanned with CamScanner

शान्ति-गीत

शान्ति कीजिए प्रभु त्रिभुवन में॥ शान्ति०॥

थल में, जल में और गगन में,
अन्तरिक्ष में, अग्नि पवन में,
औषधि, वनस्पति, वन, उपवन में,
सकल विश्व में, जड़ चेतन में॥ शान्ति०॥

ब्राह्मण के उपदेश वचन में,
क्षत्रिय के द्वारा हो रण में,
वैश्य जनों के होवे धन में,
और शूद्र के हो चरणन में॥ शान्ति०॥

शान्ति राष्ट्र, निर्माण, सृजन में,
नगर ग्राम में और भवन में,
जीवन मात्र के तन में, मन में,
और जगत् के हो कण-कण में॥ शान्ति०॥

आर्यसमाज के नियम व उद्देश्य

१. सब सत्यविद्या और जो पदार्थ विद्या से जाने जाते हैं उन सबका आदि मूल परमेश्वर है।

२. ईश्वर सच्चिदानन्दस्वरूप, निराकार, सर्वशक्तिमान्, न्यायकारी, दयालु, अजन्मा, अनन्त, निर्विकार, अनादि, अनुपम, सर्वाधार, सर्वेश्वर, सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी, अजर, अमर, अभय, नित्य, पवित्र और सृष्टिकर्त्ता है उसी की उपासना करनी योग्य है।

३. वेद सब सत्यविद्याओं का पुस्तक है। वेद का पढ़ना-पढ़ाना और सुनना-सुनाना सब आर्यों का परम धर्म है।

४. सत्य के ग्रहण करने और असत्य के छोड़ने में सर्वदा उद्यत रहना चाहिए।

५. सब काम धर्मानुसार अर्थात् सत्य और असत्य को विचार करके करने चाहिए।

६. संसार का उपकार करना इस समाज का मुख्य उद्देश्य है अर्थात् शारीरिक, आत्मिक और सामाजिक उन्नति करना।

७. सबसे प्रीतिपूर्वक धर्मानुसार यथायोग्य वर्तना चाहिए।

८. अविद्या का नाश और विद्या की वृद्धि करनी चाहिए।

९. प्रत्येक को अपनी ही उन्नति में सन्तुष्ट न रहना चाहिए किन्तु सबकी उन्नति में अपनी उन्नति समझनी चाहिए।

१०. सब मनुष्यों को सामाजिक सर्वहितकारी नियम पालने में परतन्त्र रहना चाहिए और प्रत्येक हितकारी नियम में सब स्वतन्त्र रहें।

परिशिष्ट

अथ पक्षेष्टि

पौर्णमासेष्टि (पौर्णमास-यज्ञ)

पूर्णिमा के दिन नित्य यज्ञ के पश्चात् पूर्णाहुति (सर्वं वै पूर्णं०) से पूर्व निम्नलिखित मन्त्रों से स्थालीपाक (भात, खिचड़ी, लड्डू, मोहनभोग) से विशेष आहुतियाँ देवें—

ओम् अग्नये स्वाहा ॥

ओम् इन्द्राग्नीभ्यां स्वाहा ॥

ओं विष्णवे स्वाहा ॥

व्याहृति-आहुति (केवल घृत से)

ओं भूरग्नये स्वाहा। इदमग्नये–इदन्न मम ॥ १ ॥

ओं भुवर्वायवे स्वाहा।
इदं वायवे–इदन्न मम ॥ २ ॥

ओं स्वरादित्याय स्वाहा।
इदमादित्याय–इदन्न मम ॥ ३ ॥

ओं भूर्भुवः स्वरग्निवाय्वादित्येभ्यः स्वाहा।
इदमग्निवाय्वादित्येभ्यः—इदन्न मम॥ ४॥

इस विधि के पश्चात् पूर्व पृष्ठ ५०-५६ तक लिखे पूर्णाहुति प्रकरणानुसार आहुतियाँ देवें।

दर्शेष्टि (अमावस्या-यज्ञ)

अमावस्या के दिन सामान्य यज्ञ के पश्चात् पूर्णाहुति (सर्वं वै पूर्णं॑ᳫ स्वाहा) से पूर्व निम्नलिखित मन्त्रों से स्थालीपाक (भात, खिचड़ी, लड्डू, मोहनभोग) से विशेष आहुतियाँ देवें—

ओम् अग्नये स्वाहा॥
ओम् इन्द्राय स्वाहा॥
ओं विष्णवे स्वाहा॥

व्याहृति-आहुति (केवल घृत से)

ओं भूरग्नये स्वाहा। इदमग्नये—इदन्न मम॥ १॥

ओं भुवर्वायवे स्वाहा। इदं वायवे—इदन्न मम॥ २॥

ओं स्वरादित्याय स्वाहा। इदमादित्याय—इदन्न मम॥ ३॥

ओं भूर्भुवः स्वरग्निवाय्वादित्येभ्यः स्वाहा।
इदमग्निवाय्वादित्येभ्यः—इदन्न मम॥ ४॥

उपर्युक्त मन्त्रों से आहुतियाँ देने के पश्चात् पूर्व पृष्ठ ५०-५६ तक लिखे पूर्णाहुति प्रकरणानुसार आहुतियाँ देवें।

प्रातःकाल बोलने के मन्त्र

ओ३म् प्रातरग्निं प्रातरिन्द्रं हवामहे प्रातर्मित्रावरुणा प्रातरश्विना। प्रातर्भगं पूषणं ब्रह्मणस्पतिं प्रातस्सोममुत रुद्रं हुवेम॥ १॥

प्रातर्जितं भगमुग्रं हुवेम वयं पुत्रमदितेर्यो विधर्ता। आध्रश्चिद्यं मन्यमानस्तुरश्चिद्राजा चिद्यं भगं भक्षीत्याह॥ २॥

भग प्रणेतर्भग सत्यराधो भगेमां धियमुदवा ददन्नः। भग प्र णो जनय गोभिरश्वैर्भग प्र नृभिर्नृवन्तः स्याम॥ ३॥

उतेदानीं भगवन्तः स्यामोत प्रपित्व उत मध्ये अह्नाम्। उतोदिता मघवन्त्सूर्यस्य वयं देवानां सुमतौ स्याम॥ ४॥

भग एव भगवाँ अस्तु देवास्तेन वयं भगवन्तः स्याम। तं त्वा भग सर्व इज्जोहवीति स नो भग पुर एता भवेह॥ ५॥

—ऋ० मं० ७। सू० ४१ मं० १-५

सोते समय बोलने के मन्त्र

यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवं तदु सुप्तस्य तथैवैति। दूरङ्गमं ज्योतिषां ज्योतिरेकं तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु॥ १॥

येन कर्माण्यपसो मनीषिणो यज्ञे कृण्वन्ति विदथेषु धीराः। यदपूर्वं यक्षमन्तः प्रजानां तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु॥ २॥

यत्प्रज्ञानमुत चेतो धृतिश्च यज्ज्योतिरन्तरमृतं प्रजासु। यस्मान्नऽऋते किञ्चन कर्म क्रियते तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु॥ ३॥

येनेदं भूतं भुवनं भविष्यत्परिगृहीतममृतेन सर्वम्। येन यज्ञस्तायते सप्तहोता तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु॥ ४॥

यस्मिन्नृचः साम यजूꣳषि यस्मिन्प्रतिष्ठिता रथनाभाविवाराः। यस्मिँश्चित्तꣳ सर्वमोतं प्रजानां तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु॥ ५॥

सुषारथिरश्वानिव यन्मनुष्यान्नेनीयतेऽभीशुभिर्वाजिनऽइव। हृत्प्रतिष्ठं यदजिरं जविष्ठं तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु॥ ६॥

—यजुः० अ० ३४। मं० १-६

पितृयज्ञ

पितरों के अन्तर्गत माता-पिता आदि वयोवृद्ध सम्बन्धियों के अतिरिक्त उन विशिष्ट विद्वानों का भी समावेश होता है, जिनके एक स्थान पर निवास करने से गृहस्थ को धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष की शिक्षा मिलती रहती है। ऐसे मनुष्यों की श्रद्धापूर्वक सेवा करना 'श्राद्ध' तथा भोजन वस्त्र से उन्हें तृप्त

करना 'तर्पण' कहलाता है। इन्हीं दो कार्यों से पितृयज्ञ पूर्ण होता है, कोई विशेष आहुतियाँ नहीं हैं।

बलिवैश्वदेवयज्ञः

ओम् अग्नये स्वाहा ॥ १ ॥
ओं सोमाय स्वाहा ॥ २ ॥
ओम् अग्नीषोमाभ्यां स्वाहा ॥ ३ ॥
ओं विश्वेभ्यो देवेभ्यः स्वाहा ॥ ४ ॥
ओं धन्वन्तरये स्वाहा ॥ ५ ॥
ओं कुहै स्वाहा ॥ ६ ॥
ओम् अनुमत्यै स्वाहा ॥ ७ ॥
ओं प्रजापतये स्वाहा ॥ ८ ॥
ओं द्यावापृथिवीभ्याꣳ स्वाहा ॥ ९ ॥
ओं स्विष्टकृते स्वाहा ॥ १० ॥

तत्पश्चात् निम्नलिखित मन्त्रों से बलि [प्र] दान करें—

ओं सानुगायेन्द्राय नमः ॥ १ ॥ इससे पूर्व

ओं सानुगाय यमाय नमः ॥ २ ॥ इससे दक्षिण
ओं सानुगाय वरुणाय नमः ॥ ३ ॥ इससे पश्चिम
ओं सानुगाय सोमाय नमः ॥ ४ ॥ इससे उत्तर
ओं मरुद्भ्यो नमः ॥ ५ ॥ इससे द्वार
ओं अद्भ्यो नमः ॥ ६ ॥ इससे जल
ओं वनस्पतिभ्यो नमः ॥ ७ ॥
इससे मूसल और ऊखल
ओं श्रियै नमः ॥ ८ ॥ इससे ईशान
ओं भद्रकाल्यै नमः ॥ ९ ॥ इससे नैर्ऋत्य
ओं ब्रह्मपतये नमः ॥ १० ॥
ओं वास्तुपतये नमः ॥ ११ ॥ इनसे मध्य
ओं विश्वेभ्यो देवेभ्यो नमः ॥ १२ ॥
ओं दिवाचारिभ्यो भूतेभ्यो नमः ॥ १३ ॥
ओं नक्तंचारिभ्यो भूतेभ्यो नमः ॥ १४ ॥
इनसे ऊपर
ओं सर्वात्मभूतये नमः ॥ १५ ॥ इससे पृष्ठ
ओं पितृभ्यः स्वधायिभ्यः स्वधा नमः ॥ १६ ॥
इससे दक्षिण

इन मन्त्रों से एक पत्तल वा थाली में यथोक्त दिशाओं में भाग धरना। यदि भाग धरने के समय कोई 'अतिथि' आ जाए, तो उसी को दे देना, नहीं तो अग्नि में धर देना।

शुनां च पतितानां च श्वपचां पापरोगिणाम्।
वायसानां कृमीणां च शनकैर्निर्वपेद् भुवि॥

—मनु० ३।९२

अर्थ—कुत्ता, पतित, चाण्डाल, पापरोगी, काक और कृमि—इन छह नामों से छह भाग पृथिवी पर धरे और वे भाग जिस-जिसके नाम [से] हैं, उस-उस को देना चाहिए।

अतिथियज्ञः

जो विद्वान् उपदेशक, संन्यासी आदि मानव-जाति के सेवार्थ भ्रमण करते हुए अचानक गृहस्थ के द्वार पर आ जाते हैं, वे 'अतिथि' कहलाते हैं। ऐसे महापुरुषों की सेवा-शुश्रूषा, अन्नपान आदि से सत्कार करना अतिथि-यज्ञ कहलाता है।

भोजन का मन्त्र

ओम् अन्नपतेऽन्नस्य नो देह्यनमीवस्य शुष्मिणः।
प्रप्र दातारं तारिष ऊर्जं नो धेहि द्विपदे चतुष्पदे॥

—यजु० ११।८३

भोजनोपरान्त बोलने का मन्त्र

ओं मोघमन्नं विन्दते अप्रचेताः सत्यं ब्रवीमि वध इत्स तस्य। नार्यमणं पुष्यति नो सखायं केवलाघो भवति केवलादी॥—ऋ० १०।११७।६

स्वाध्याय

'स्वाध्याय से व्यक्ति निम्न उपाधियों से अलंकृत किये जाते हैं।'

(क) विद्यार्थं ब्रह्मचारी स्यात् ॥

विद्या पढ़ने के लिये ब्रह्मचारी होंवे।

(१) उपनीत मात्रो व्रतानुचारी वेदानां किञ्चिदधीत्य ब्राह्मणः ॥ १ ॥

—बौधायन गृह्यसूत्र

ब्रह्मचर्य्यादि व्रतों का आचरण करनेवाला यज्ञोपवीतधारी कुछ वेद पढ़कर 'ब्राह्मण' होता है।

(२) एकां शाखामधीत्य श्रोत्रियः ॥ २ ॥

वेद की एक शाखा का अध्ययन करनेवाला 'श्रोत्रिय' होता है।

(ख) एकां शाखां सकल्पां वा षड्भिरङ्गैर-धीत्य च। षट्कर्म निरतो विप्रः श्रोत्रियो नाम धर्मवित् ॥ —दानकमलाकर

कल्प अथवा षडङ्गोंसहित वेद की एक शाखा का अध्ययन करके छह कर्मों (पढ़ना-पढ़ाना, यज्ञ करना-कराना, दान देना और लेना) में निरतधर्म को जाननेवाला ब्राह्मण श्रोत्रिय होता है।

(३) अङ्गान्यधीत्यानूचानः ॥ ३ ॥

वेदाङ्ग पढ़कर 'अनूचान' कहलाता है।

(४) कल्पाध्यायी ऋषिकल्पः ॥ ४ ॥

वेद की प्रयोगविद्या पढ़कर 'ऋषिकल्प' कहलाता है।

(५) सूत्रप्रवचनाध्यायी भ्रूणः ॥ ५ ॥

सूत्र और व्याख्यान को पढ़नेवाला 'भ्रूण' कहलाता है।

(६) चतुर्वेदाद् ऋषिः ॥ ६ ॥

चारों वेदों के अध्ययन से ऋषि कहलाता है।

(७) अत ऊर्ध्वं देवः ॥ ७ ॥

इससे ऊँचा देव कहलाता है।

(ग) विद्वाᳬंसो हि देवाः ॥ —शत० ३।७।६।१०

निश्चय से विद्वान् मनुष्यों को देव कहते हैं।

विमर्श—यदि माता-पिता और आचार्य चाहे तो बालक को विद्वान् और गुणवान् बनाकर राष्ट्र को समर्पित कर सकते हैं।

स्वाध्याय

स्वाध्याय वेद का होता है, क्योंकि वेद में ही 'अध्याय' है। वेद का अर्थ ज्ञान होता है, इसलिए महर्षि मनु ने कहा है—

वेदोऽखिलो धर्ममूलम्॥ —मनु० २।६

सम्पूर्ण वेद धर्म का आधार है। अत: महर्षि दयानन्द सरस्वती ने जोर देकर कहा कि वेदों की ओर लौटो, अर्थात् वेद का पढ़ना-पढ़ाना और सुनना-सुनाना सब आर्यों का परम धर्म है। यह कहकर आर्यसमाज और गुरुकुलों के द्वारा नित्य-प्रतिदिन वेदों का अध्ययन कराकर चरितार्थ कर दिया है।

इस विषय में पुन: मनु ने कहा है—

वेदोपकरणे चैव स्वाध्याये चैव नैत्यके।
नानुरोधोऽस्त्यनध्याये होममन्त्रेषु चैव हि॥

वेद के पठन-पाठन में तथा नित्य के स्वाध्याय करने में और नित्य के यज्ञ करने में कभी अनध्याय नहीं करना चाहिए। यह काम नित्य प्रति करने आवश्यक हैं। छोड़ने नहीं चाहिए। वेद में भी कहा है—

मिमीहि श्लोकमास्ये पर्जन्यइव ततन:।
गाय गायत्रमुक्थ्यम्॥ —ऋ० १।३८।१४

हे विद्वान् तू वेदवाणी को मुख में धारण कर और उस वेदवाणी को मेघ की भाँति गर्जन करते हुए दूर-दूर तक फैला। उसका उपदेश कर और गायत्री मन्त्र में कहे हुए वेद के वचनों का स्वयं गान कर और दूसरों को भी पढ़ा।

स्वाध्याय का अर्थ

सु या स्व उपपद में होने पर आङ् अधिपूर्वक अध्ययनार्थक 'इङ्' धातु से 'इङश्च' ३।३।२१ इस पाणिनीय सूत्र से घञ् प्रत्यय करने पर 'स्वाध्याय' शब्द सिद्ध होता है। 'सुष्ठु' 'आवृत्य अध्ययनं स्वाध्यायः। स्वमध्ययनं स्वाध्यायः।' भली-भाँति आवृत्तिपूर्वक अध्ययन करना या अपने लिए अथवा स्वयं अध्ययन करना। स्व शब्द के आत्मा, आत्मीय आदि अनेक अर्थ होने के कारण स्वाध्याय शब्द के भी विविध अर्थ हो जाते हैं।

योगदर्शन के व्यासभाष्य में स्वाध्याय शब्द का अर्थ महर्षि व्यास ने इस प्रकार किया है—

''स्वाध्यायः प्रणवादिपवित्राणां जपः मोक्षशास्त्राध्ययनं वा।'' (२।१ तथा २।३२ सूत्र-भाष्ये) प्रणव=ओम् गायत्र्यादि का जप करना या मोक्षशास्त्र आध्यात्मिक ग्रन्थ वेद, दर्शन, उपनिषदादि का पढ़ना स्वाध्याय कहलाता है।

सभी कोषकारों ने स्वाध्याय शब्द को वेदाध्ययन शब्द का पर्यायवाची या समानार्थक माना है—

''स्वाध्यायः। वेदाध्ययनम्। स्वाभिमतप्रणवादिमन्त्रजपे। ब्रह्मयज्ञे वेदाध्ययने। फलवदर्थावबोधपर्यन्ताध्ययने। उपनिषद्-ग्रन्थावृत्तौ। मोक्षशास्त्राणामध्ययने। सु अतीव आवृत्य अध्ययनम्। स्वार्थमध्ययनं वा।''

—शब्दार्थचिन्तामणिः

''स्वाध्यायः। सुष्ठु आवृत्य अध्यायो वेदाध्ययनमिति।' —शब्दकल्पद्रुमबृहदभिधानम्।

स्वाध्यायः स्याजपः। 'द्वे वेदाध्ययन-स्येति' तट्टीका। —अमरकोषः

''स्वाध्यायो जप इत्युक्तो वेदाध्ययन-कर्मणि।'' —शब्दरत्नावली

''द्वे आवृत्य वेदाध्ययने। सु सुकृताय आवृत्य अध्यायोऽधितिः स्वाध्यायः।''

—भरतः

"सम्यक् रूप से शास्त्रमात्र के अध्ययन को ही स्वाध्याय कहते हैं।" —हिन्दी विश्वकोष

इस प्रकार सभी कोषकार स्वाध्याय शब्द का अर्थ वेद, दर्शन, उपनिषदादि शास्त्रों का अध्ययन करना, आत्मकल्याणार्थ अध्ययन करना, आत्मचिन्तन, ईश्वरभक्ति, प्रणवादिजप करना इत्यादि अर्थ करते हैं। उसी प्रकार 'स्वाध्यायी' और 'स्वाध्यायवान' शब्द भी विशिष्ट वेदाध्यायी के अर्थ में प्रयुक्त हुए हैं यथा—

स तूर्ध्वरेतास्तपसि प्रसक्तः, स्वाध्यायवान् वीतभयः कृतात्मा। चचार सर्वां पृथिवीं महात्मा, न चापि दारान् मनसाप्यकाङ्क्षत्॥

—महाभारत १।४०।१०

स्वाध्याय, ब्रह्मचर्यपालन आदि तप में लगा हुआ, भय, शोकादि से रहित, ऊर्ध्वरेता और जितेन्द्रिय होकर महात्मा जरत्कारु सम्पूर्ण भूमण्डल पर भ्रमण करने लगा, उसने कभी मन से भी स्त्री आदि की इच्छा नहीं की।

चारों वर्णाश्रमों में वेदों का स्वाध्याय करना अनिवार्य है।

ब्रह्मचर्य-आश्रम

महर्षि मनु ने कहा कि—

वेदानधीत्य वेदौ वा वेदं वाऽपि यथाक्रमम्। अविप्लुतब्रह्मचर्यो गृहस्थाश्रममाविशेत्॥

—मनु० ३।२

गुरुणानुमतः स्नात्वा समावृत्तो यथाविधि। उद्वहेत द्विजो भार्यां सवर्णां लक्षणान्विताम्॥

—मनु० ३।४

तुम ब्रह्मचर्य से गृहस्थाश्रम में जाना चाहते हो, जाओ। मैं तुमको मना नहीं करता, ठहरो, मेरी एक बात मान लो। आजकल के सड़क छाप बनजारे की तरह मत जाओ, दरिद्र नारायण बनकर मत जाओ, तुम्हें कुछ बनने के लिए सिंहावलोकन करना होगा। सबसे पहले गुरु, आचार्य की आज्ञा आवश्यक है, तुम्हें स्नान करना होगा, एक-दो लोटा

जल से काम नहीं चलेगा, भरपूर डुबकी लगानी पड़ेगी। वह भी नदी-तालाब से कार्य नहीं चलेगा, गुरुकुल में गुरु के द्वारा स्नान करना होगा, चारों वेदों को या दो वेद अन्यथा न्यून-से-न्यून एक वेद को पढ़कर स्नातक बन जाओ, वह भी 'वेद विद्याव्रत' स्नातक बनकर जिसका ब्रह्मचर्य खण्डित न हुआ हो, वह पुरुष वा स्त्री गृहाश्रम में प्रवेश करे। अर्थात् अनुक्रमपूर्वक आ के ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य अपने वर्णानुकूल सुन्दर लक्षणयुक्त कन्या से विवाह करे। अर्थात् ब्रह्मचर्याश्रम में वेदों का स्वाध्याय करके ही गृहस्थाश्रम में प्रवेश कर सकता है।

गृहाश्रम

गृहस्थाश्रम में पञ्चमहायज्ञ और स्वाध्याययज्ञ नित्यप्रति करना आवश्यक है।

महर्षि मनु ने कहा है कि—

ऋषियज्ञं देवयज्ञं भूतयज्ञञ्च सर्वदा।
नृयज्ञं पितृयज्ञञ्च यथाशक्ति न हापयेत्॥

—मनु० ४।२

ऋषियज्ञ, देवयज्ञ, भूतयज्ञ, नृयज्ञ और पितृयज्ञ इन पाँचों यज्ञों को यथाशक्ति करते ही रहना चाहिए। इनको छोड़ना नहीं चाहिए।

अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः पितृयज्ञस्तु तर्पणम्।
होमो दैवो बलिर्भौतो नृयज्ञोऽतिथि पूजनम्॥

—मनु० ३।७०

विद्या पढ़ाना ब्रह्मयज्ञ कहलाता है। तर्पण करना पितृयज्ञ कहाता है। होम करना देवयज्ञ तथा बलि देना भूतयज्ञ कहलाता है और अतिथियों का पूजन करना नृयज्ञ कहलाता है।

पञ्चमहायज्ञों में 'स्वाध्याय' को शतपथ ब्राह्मण ने 'ब्रह्मयज्ञ' कहा है। समावर्तन के समय आचार्य अन्तेवासी अर्थात् नवस्नातक को उपदेश देकर दीक्षा देता है।

आचार्य का नवस्नातक को उपदेश

वेदमनूच्याचार्य्योऽन्तेवासिनमनुशास्ति—
सत्यं वद। धर्म चर। स्वाध्यायान्मा प्रमदः।

आचार्याय प्रियं धनमाहृत्य प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः। सत्यान्न प्रमदितव्यम्। धर्मान्न प्रमदितव्यम्। कुशलान्न प्रमदितव्यम्। भूत्यै न प्रमदितव्यम्। स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम्॥ १॥

देव पितृकार्याभ्यां न प्रमदितव्यम्। मातृदेवो भव। पितृदेवो भव। आचार्यदेवो भव। अतिथिदेवो भव। यान्यनवद्यानि कर्माणि, तानि सेवितव्यानि, नो इतराणि। ये के चास्मच्छ्रेयांसो ब्राह्मणास्तेषां त्वयासनेन प्रश्वसितव्यम्। श्रद्धया देयम्। अश्रद्धया देयम्। श्रिया देयम्। ह्रिया देयम्। भिया देयम्। संविदा देयम्। अथ यदि ते कर्मविचिकित्सा वा वृत्तविचिकित्सा वा स्यात्॥ २-३॥

ये तत्र ब्राह्मणाः सम्मर्शिनो युक्ता अयुक्ताः, अलूक्षा धर्मकामाः स्युर्यथा ते तत्र वर्तेरन्, तथा तत्र वर्तेथाः। एष आदेश एष

उपदेश एषा वेदोपनिषत्॥ एतदनुशासनम्। एवमुपासितव्यम्। एवमु चैतदुपास्यम्॥ ४॥

—तैत्तिरीय० शिक्षा १।१

आचार्य 'अन्तेवासी' अर्थात् अपने शिष्य और शिष्याओं को इस प्रकार उपदेश करे कि—तू सदा सत्य बोल। धर्माचार कर। प्रमादरहित होके पढ़-पढ़ा। पूर्ण ब्रह्मचर्य से समस्त विद्याओं को ग्रहण कर और आचार्य के लिए प्रिय धन देकर विवाह करके सन्तानोत्पत्ति कर। प्रमाद से सत्य को कभी मत छोड़। प्रमाद से धर्म का त्याग मत कर। प्रमाद से आरोग्य को मत छोड़। प्रमाद से उत्तम ऐश्वर्य की वृद्धि को मत छोड़। प्रमाद से पढ़ने और पढ़ाने को कभी मत छोड़॥ १॥

देव (विद्वान्) और माता-पितादि की सेवा में प्रमाद मत कर। जैसे विद्वान् का सत्कार करे, उसी प्रकार माता-पिता, आचार्य और अतिथि की सेवा सदा किया कर। जो अनिन्दित धर्मयुक्त धर्म है, उन

सत्य भाषणादि को किया कर, उनसे भिन्न मिथ्याभाषणादि कभी मत कर। जो हमारे सुचरित्र अर्थात् धर्मयुक्त कर्म हों, उनका ग्रहण कर और जो हमारे पापाचरण हों उनको कभी ग्रहण मत कर।

जो कोई हमारे मध्य में उत्तम विद्वान्, धर्मात्मा ब्राह्मण हैं उन्हीं के समीप बैठ और उन्हीं का विश्वास किया कर। श्रद्धा से देना, अश्रद्धा से देना, शोभा से देना, लज्जा से देना, भय से देना और प्रतिज्ञा से भी देना चाहिए। जब कभी तुझको कर्म वा शील तथा उपासना वा विज्ञान में किसी प्रकार का संशय उत्पन्न हो— ॥ २-३ ॥

तो जो विचारशील, पक्षपातरहित, योगी अथवा तपस्वी, आर्द्रचित्त, धर्म की कामना करनेवाले, धर्मात्माजन हों, जैसे वे धर्ममार्ग में वर्तें वैसे तू भी उसमें वर्ता कर। यही आदेश=आज्ञा, यही उपदेश, यही वेद की और यही उपनिषद् की शिक्षा है। इसी प्रकार वर्तना और अपना चाल-चलन सुधारना

चाहिए ॥ ४ ॥

प्राचीन गुरुकुलों, विद्यालयों, आधुनिक विश्वविद्यालयों वा विद्यापीठ आदि में समावर्तन के अवसर पर जो उपदेश दीक्षा-समय में स्नातक को दिया जाता है वह प्रायः सर्वत्र तैत्तिरीयोपनिषद् के आधार पर ही दिया जाता है, अर्थात् वेद वा विद्या-समाप्ति में आचार्य अपने अन्तेवासी (शिष्य) को निम्नप्रकार उपदेश करता है—

सत्य का व्यवहार करना। धर्म का आचरण करना।

यदि तुम्हें अपने जीवन में किसी समय संशय उत्पन्न होने लगे कि मुझे अमुक कार्य करना चाहिए या नहीं वा अमुक व्यवहार मेरे लिए कर्त्तव्य है या अकर्त्तव्य, यह विचिकित्सा (संशय) उत्पन्न हो जाये, तब तुम ऐसा करना कि उस विषय में जो ब्रह्मवित् (वेद के ज्ञाता, ब्रह्मज्ञानी) विचारवान्-योगी-तपस्वी निःस्वार्थी धर्मपरायण हो, उक्त विषय

में जैसे वे आचरण करें, तुमने भी उस विषय में वैसा ही आचरण करना। यही आदेश है, यही उपदेश है। यही वेदशास्त्र की आज्ञा है, यही अनुशासन है। यही करने योग्य है, इसका ही तुम्हें पालन करना है।

आजकल शिक्षा समाप्त कर दीक्षान्त भाषण देने की परिपाटी है, जिसमें कुछ सालों से कुछ विश्वविद्यालयों में तैत्तिरीयोपनिषद् के इस उपदेश को दीक्षान्त-भाषण का अङ्ग बना लिया गया है। गुरुकुलों में तो यह प्रथा उपनिषत्काल से चली आ रही है और जो गुरुकुल भारत में चल रहे हैं, उनमें दीक्षान्त के समय आचार्य लोग यही भाषण देते रहे हैं। इस भाषण में शिक्षा का ही नहीं, भावी जीवन में किस प्रकार का व्यवहार करना चाहिए—उसका भी सार आ जाता है। अगर वेदारम्भ-संस्कार के समय बालक को पिता द्वारा दिये गये उपदेश को, शिक्षा समाप्त कर चुकने पर आचार्य द्वारा स्नातक

को दिए गए भाषण के साथ मिलाकर पढ़ा जाए, तो वैदिक संस्कृति के शिक्षा के सिद्धान्त एकदम उभर आते हैं जो शिक्षा के वर्तमान सिद्धान्तों या वर्तमान परिपाटी से कहीं ऊँचे हैं।

शूद्रो ब्राह्मणतामेति ब्राह्मणश्चैति शूद्रताम्।
क्षत्रियाज्जातमेवन्तु विद्याद्वैश्यात्तथैव च॥

—मनु० १०।६५

जन्म से कोई ब्राह्मणादि नहीं होता, किन्तु सब अपने-अपने गुण-कर्मानुसार ही होते हैं। शूद्र कुल में उत्पन्न व्यक्ति ब्राह्मण बन जाता है और ब्राह्मणकुलोत्पन्न व्यक्ति शूद्र बन जाता है। मनु महाराज लिखते हैं—

स्वाध्यायेन व्रतैर्होमैस्त्रैविद्येनेज्यया सुतैः।
महायज्ञैश्च यज्ञैश्च ब्राह्मीयं क्रियते तनुः॥

—मनु० २।२८

इस प्रकार श्लोक का अर्थ ऋषि दयानन्दजी ने सत्यार्थप्रकाश में इस प्रकार लिखा है—

"(स्वाध्याय) सकल विद्या पढ़ने-पढ़ाने (व्रतैः) ब्रह्मचर्य सत्यभाषणादि नियम पालने (होमैः) अग्निहोत्रादि होम, सत्य का ग्रहण, असत्य का त्याग और सत्य विद्याओं का दान देने (त्रैविद्येन) वेदस्थ कर्मोपासनाज्ञान विद्या के ग्रहण (इज्यया) पक्षेष्ट्यादि करने (सुतैः) सन्तानोत्पत्ति (महायज्ञैः) ब्रह्म, देव, पितृ, बलिवैश्वदेव और अतिथियों के सेवनरूप पञ्चमहायज्ञों और (यज्ञः) अग्निष्टोमादि तथा शिल्पविद्या विज्ञानादि यज्ञों के सेवन से इस शरीर को ब्राह्मी अर्थात् वेद और परमेश्वर की भक्ति का आधाररूप ब्राह्मण का शरीर किया जाता है। इतने साधनों के विना ब्राह्मण शरीर नहीं बन सकता।"

ब्राह्मण अर्थात् सर्वोत्तम पुरुष बनने के लिए भी सर्वप्रथम स्वाध्याय की ही आवश्यकता है। छान्दोग्योपनिषद् में स्वाध्याय से मोक्ष मिलता है, ऐसा लिखा है—

आचार्य कुलाद्वेदमधीत्य, यथाविधानं गुरोः कर्मातिशेषेणाभिसमावृत्य, कुटुम्बे शुचौ देशे स्वाध्यायमधीयानो धार्मिकान्विदधदात्मनि सर्वेन्द्रियाणि सम्प्रतिष्ठाप्याहिंसन्त्सर्वभूतानि अन्यत्र तीर्थेभ्यः, स खल्वेवं वर्तयन्यावदायुषं, ब्रह्मलोकमभिसम्पद्यते॥

—छान्दोग्य उपनिषद् ८।१५।१

अर्थात् आचार्यकुल से वेदों को पढ़कर, गुरु की दक्षिणा को देकर समावर्तन द्वारा लौटकर, कुटुम्ब में स्वाध्याय में रत रहकर और धार्मिक विद्वानों के सत्सङ्ग में सब इन्द्रियों को वश में करके, अहिंसा-बुद्धि से सब प्राणियों को देखता हुआ आयुपर्यन्त इस प्रकार का व्यवहार करता हुआ विद्वान् ही ब्रह्मलोक (मोक्ष) को प्राप्त होता है।

वानप्रस्थाश्रम

ब्रह्मचर्य्याश्रमं समाप्य गृही भवेत् गृही भूत्वा वनी भवेद्वनी भूत्वा प्रव्रजेत्॥

—शत० कां० १४

मनुष्यों को उचित है कि ब्रह्मचर्याश्रम को समाप्त करके गृहस्थ होकर वानप्रस्थ और वानप्रस्थ होके संन्यासी होवे, अर्थात् यह अनुक्रम से आश्रम का विधान है। इस प्रकार वानप्रस्थाश्रम भी तप और स्वाध्यायादि के लिए है। महर्षि मनु ने भी कहा है—

स्वाध्याये नित्ययुक्तः स्याद् दान्तो मैत्रः समाहितः। दाता नित्यमनादाता सर्वभूतानुकम्पकः॥

—मनु० ६।७

वानप्रस्थी को चाहिए कि वह जितेन्द्रिय होकर सर्वदा स्वाध्याय करने में रत रहे, सांसारिक विषयों से इन्द्रियों का दमन कर, सब पर कृपादृष्टि रखता हुआ विद्यादि का दान करता रहे, किन्तु प्रत्युपकार में किसी से कुछ न ले, इस प्रकार व्यवहार करे।

योगदर्शन के १।२८ व्यासभाष्य में स्वाध्याय के विषय में कहा है—

स्वाध्यायाद् योगमासीत् योगात् स्वाध्यायमामनेत्। स्वाध्याय योग सम्पत्त्या परमात्मा प्रकाशते॥

स्वाध्याय से मनुष्य योग को साधे, योग से स्वाध्याय का मनन करे। स्वाध्याय और योग की सम्पत्ति से परमात्मा का साक्षात्कार होता है।

इस प्रकार से मुनि लोग स्वाध्याय को अपने जीवन में चरितार्थ करें।

संन्यास आश्रम

चतुर्थाश्रम संन्यास में सभी सांसारिक साधनों का त्याग करते हुए स्वाध्याय की आवश्यकता बतलाई है।

संन्यसेत् सर्वकर्माणि वेदमेकं न संन्यसेत्।
वेदसंन्यासतः शूद्रः तस्माद्वेदं न संन्यसेत्॥

—मनु० ६।९५

संन्यासी सब सांसारिक कार्यों से विरत हो जाये, किन्तु वेद के स्वाध्याय को न छोड़े, वह संन्यासी के लिए भी अनिवार्य है। इस प्रकार ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास सभी आश्रमों में स्वाध्याय यज्ञ की शास्त्रकारों ने अत्यन्त आवश्यकता बतलाई है।

चातुर्वर्ण्यं त्रयो लोकाश्चत्वार आश्रमाः पृथक्।
भूतं भव्यं भविष्यं च सर्वं वेदात्प्रसिध्यति॥

—मनु०

ब्राह्मणादि चारों वर्ण, ब्रह्मचर्यादि चारों आश्रम अर्थात् सम्पूर्ण वर्णाश्रम धर्म, भूत, वर्तमान और भविष्यत् इन सबका ज्ञान वेद के अध्ययन से होगा।

स्वाध्याय की महिमा

हमारे शास्त्रों में स्वाध्याय की महिमा बहुत बतलाई गई है। वेद, स्मृति, उपनिषद्, दर्शन और ब्राह्मणग्रन्थों में स्वाध्याय के महत्त्व पर प्रभूत प्रकाश डाला गया है। स्वाध्याय के महत्त्व को दृष्टि में रखते हुए ही हमारे पूर्वज ऋषि-महर्षियों ने हमारी जीवनचर्या में स्वाध्याय को सबसे अधिक महत्त्व दिया है।

जैसाकि महर्षि मनु ने कहा है—

वेदमेवाभ्यसेन्नित्यं यथाकालमतन्द्रितः।
तं ह्यस्याहुः परं धर्ममुपधर्मोऽन्य उच्यते॥

—मनु० ४।१४७

ब्राह्मण का कर्त्तव्य है कि वह यथा अवसर आलस्यरहित होकर वेद का ही अभ्यास करे, क्योंकि यही ब्राह्मण का मुख्य और परम धर्म है। अन्य सब कर्त्तव्य इसके उपधर्म कहलाते हैं।

वेदमेव सदाऽभ्यस्येत्तपस्तप्स्यन्द्विजोत्तमः।
वेदाभ्यासो हि विप्रस्य तपः परमिहोच्यते॥

—मनु० २।१६६

तपस्या में लगा हुआ ब्राह्मण नित्य प्रति वेदों का अध्ययन करे, उनका अभ्यास कदापि न छोड़े, क्योंकि वेद का पढ़ना ही ब्राह्मणों का परम तप कहलाता है।

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितञ्च यत्।
स्वाध्यायाभ्यसनञ्चैव वाङ्मयन्तप उच्यते॥

—गीता अ० १७।१५

किसी को दुःख न देनेवाला वाक्य बोलना, सत्य बोलना, प्रिय और हितकारी वाक्य बोलना और स्वाध्याय का नित्य अभ्यास करना यह सब वाणी का तप कहलाता है। वाणी से इन कर्मों के

करने को वाङ्मय तप कहते हैं।

वेदाभ्यासोऽन्वहं शक्त्या महायज्ञक्रिया क्षमा।
नाशयन्त्याशु पापानि महापातकजान्यपि॥

—मनु० ११।२४५

शक्ति के अनुसार वेदाभ्यास करना, महायज्ञ करना तथा क्षमा करना यह तीनों कर्म महापातक रूपी कर्म से उत्पन्न हुए बड़े-बड़े पापों को भी शीघ्र ही नष्ट कर देते हैं।

अधीत्य यत्किञ्चिदपि वेदार्थाधिगमे रतः।
स्वर्गलोकमवाप्नोति धर्मानुष्ठानविद् द्विजः॥

जो धर्म का अनुष्ठान जाननेवाला तथा धर्माचरण करनेवाला ब्राह्मण है वह यदि थोड़ा अध्ययन करके भी वेदों का ज्ञान प्राप्त करना चाहता है, उनमें यत्न करता है वह स्वर्गलोक को जाता है।

त्रयो धर्मस्कन्धा यज्ञोऽध्ययनं दानमिति॥

—छान्दोग्य २।२३।१

मनुष्य के लिए धर्म के तीन स्कन्ध हैं—१. यज्ञ, २. स्वाध्याय और ३. दान। इनमें स्वाध्याय

सर्वश्रेष्ठ है, क्योंकि इसी से हम वस्तुतः मनुष्य कहलाने के अधिकारी बनते हैं।

शतपथ में लिखा है—''ब्राह्मण जिस दिन स्वाध्याय नहीं करता उसी दिन वह ब्राह्मण से अब्राह्मण हो जाता है। अर्थात् ब्राह्मण की पवित्रता इसी में है कि वह सदा-सर्वदा, दिन-प्रतिदिन नया ज्ञान, उपयोगी ज्ञान, ब्रह्मज्ञान अर्जित करता चले। अपने ज्ञानरूपी कोष को उत्तरोत्तर बढ़ाता चले।

ज्ञान का मार्ग किसी की बपौती नहीं है, वरन् गरीब, अमीर, नीच, ऊँच, नारी, पुरुष, बालक, जवान और वृद्ध सबके लिए समान रूप से खुला हुआ है।

स्वाध्याय की महिमा के विषय में महाभारत में बहुत कुछ कहा गया है।

स्पृहयामि द्विजातिभ्यो येषां ब्रह्म परं धनम्।
येषां स्वप्रत्ययः स्वर्गस्तपः स्वाध्यायसाधनम्॥

—अ० ८।३

भीष्मजी ने कहा—युधिष्ठिर! जिनका ब्रह्म (ईश्वर तथा वेद) ही परम धन है, आत्मज्ञान ही दिव्य गति है तथा वेदों का स्वाध्याय ही श्रेष्ठ तप है, उन ब्राह्मणों को मैं चाहता हूँ।

स्वाध्यायनित्येषु सदा द्विजेषु, क्षत्रे च धर्माभिरते सदैव। वैश्ये च कृष्याभिरते वसामि, शूद्रे च शुश्रूषणनित्ययुक्ते॥

—अ० ११।१९

लक्ष्मी कहती है—मैं सदा वेदों के स्वाध्याय में तत्पर रहनेवाले ब्राह्मणों, स्वधर्मपरायण क्षत्रियों, कृषिधर्म में लगे वैश्यों तथा नित्य सेवापरायण शूद्रों के यहाँ निवास करती हूँ।

प्रसन्नहृदयाश्चैव सर्वसत्त्वेषु नित्यशः। आपृष्ठातापात् स्वाध्याये युक्तास्तान् पूजयाम्यहम्॥

—अ० ३१।१४

नारद ने श्रीकृष्णजी से कहा—जो नित्य-निरन्तर समस्त प्राणियों पर प्रसन्नचित्त रहते और

सेवेरे से दोपहर तक वेदों के स्वाध्याय में संलग्न रहते हैं, उनका मैं पूजन करता हूँ।

स्वाध्याय की प्रशंसा

शतपथ ब्राह्मण के एक ब्राह्मण में सम्पूर्ण स्वाध्याय की प्रशंसा का उल्लेख है।

अथातः स्वाध्याय प्रशंसा। प्रिये स्वाध्याय प्रवचने भवतो युक्तमना भवत्यपराधीनोऽहरहरर्थान् साधयते, सुखं स्वपिति परम चिकित्सक आत्मनो भवतीन्द्रिय संयमश्चैकारामता च प्रज्ञावृद्धिर्यशोलोकपक्तिः।

प्रज्ञा वर्धमाना चतुरो धर्मान्ब्राह्मणमभि निष्पादयति ब्राह्मण्यं प्रतिरूपचर्यां यशोलोकपक्तिम्। लोकः पच्यमानश्चतुर्भिर्धर्मैर्ब्राह्मणं भुनक्त्यर्चया च दानेन चाज्येयतया चावध्यतया च॥ —शत० ११।५।७।१

अर्थ—अब स्वाध्याय की प्रशंसा करता हूँ। स्वाध्याय और प्रवचन दो प्रिय कर्म हैं। जो इनको

करता है, वह एकाग्र मन वाला हो जाता है। वह कभी पराधीन नहीं होता। उसके कार्य दिनों-दिन सिद्ध होते जाते हैं, वह सदा सुख की नींद सोता है। उससे बढ़कर अपने रोगों का चिकित्सक कोई नहीं होता। इन्द्रिय-संयम, आत्माभिमुखता, बुद्धि का विकास और कीर्त्ति के कारण लोक-व्यवहार में निर्विघ्नता ये वैशिष्ट्य उसको प्राप्त हो जाते हैं। उसकी बुद्धि विकसित होकर अध्ययन-अध्यापन, यजन-याजन आदि चारों कर्मों से उसे युक्त कर देती है। स्वाध्यायशील के व्यवहार से आकृष्ट हुए लोग उसका सत्कार और दान के द्वारा तथा उसे सब प्रकार के कष्टों से बचाकर और उसके प्राणों की रक्षा करके उसका पालन करते हैं।

यन्ति वा आप एत्यादित्य एति चन्द्रमा यन्ति नक्षत्राणि। यथा ह वा एता देवता नेयुर्न कुर्युरिव हैव तदहर्ब्राह्मणो भवति यदहः स्वाध्यायं नाधीते। तस्मात् स्वाध्यायं नाधीते। तस्मात् स्वाध्यायोऽध्येतव्यः॥

—शत० १५।५।८।१०

अर्थ—जलाशय नित्य बहते हैं, सूर्य नित्य चलता है, चन्द्रमा नित्य यात्रा करता है, नक्षत्र सदा अपनी परिक्रमाओं में घूम रहे हैं। सो जिस दिन कोई ब्राह्मण स्वाध्याय नहीं करता उस दिन वह ऐसा ही काम करता है जैसे जल, सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र यह सब देव अपना कार्य करना छोड़ दें। इसलिए स्वाध्याय नित्य करना चाहिए। कुछ नहीं तो एक ऋचा, एक यजुर्वाक्य, एक सामवचन, एक गाथा या एक लोकोक्ति का ही उच्चारण कर ले जिससे कि स्वाध्याय का व्रत टूटने न पावे।

आ हैव स नखाग्रेभ्यः परमं तप्यते तपः। यः स्रग्व्यपि द्विजोऽधीते स्वाध्यायं शक्तितोऽन्वहम्॥

—मनु० २।१६७

अर्थ—निश्चय ही वह ब्राह्मण पग के नख से लेकर शिखा तक परम तप तपता है जो कि सामर्थ्यानुसार प्रतिदिन नियम से स्वाध्याय करता है, भले ही वह द्विज पुष्पमाला आदि से अलंकृत

होकर ही ऐसा करता हो।

ये ह वै के च श्रमाः। इमे द्यावा-पृथिवीऽन्तरेण स्वाध्यायो हैव तेषां परमता काष्ठा य एवं विद्वान् स्वाध्यायमधीते तस्मात् स्वाध्यायोऽध्येतव्यः॥

—शतपथ० का० ११, अ० ५, ब्रा० ६, क० २

संसार में जितने भी कार्य हैं स्वाध्याय उन सबमें श्रेष्ठ है, कठिन कार्य है, ऐसा जानकर जो स्वाध्याय करता है वह तत्त्व को जान लेता है। इसलिए स्वाध्याय करना चाहिए।

यद् यद्ध वायं छन्दसः स्वाध्यायमधीते तेन तेन हैवास्य यज्ञक्रतुनेष्टम्भवति, य एवं विद्वान्स्वाध्यायमधीते, तस्मात्स्वाध्यायोऽ-ध्येतव्यः॥

—शतपथ० का० ११, अ० ५, ब्रा० ७, कं० १

स्वाध्यायशील मनुष्य जिस-जिस वेद का स्वाध्याय करता है उसको उस-उस वेद का वही फल मिलता है जो उस वेद से यज्ञ करने पर होता

है, अतः स्वाध्याय अवश्य करना चाहिए।

स्वाध्याय का फल

स्वाध्याय में भी एक आत्मिक सुख है। ज्यों-ज्यों हम ज्ञान प्राप्त करते हैं, अन्दर से एक प्रकार के विवेकयुक्त ज्ञान का प्रकाश प्राप्त करते हैं। गुप्त सुख का अनुभव करते हैं।

मनु महाराज ने लिखा है—

यथा यथा हि पुरुषः शास्त्रं समधिगच्छति।
तथा तथा विजानाति विज्ञानं चास्य रोचते॥

—मनु० ४।२०

मनुष्य ज्यों-ज्यों शास्त्रों का परिशीलन करता जाता है, त्यों-त्यों उत्तरोत्तर ज्ञान की वृद्धि होती जाती है और उसकी रुचि भी शास्त्रों के प्रति बढ़ती जाती है।

(१) यः स्वाध्यायमधीतेऽब्दं विधिना नियतः शुचिः। तस्य नित्यं क्षरत्येष पयो दधि घृतं मधु॥ —मनु० २।१०७

स्वाध्याय करने का इतना फल है कि जो द्विज

नित्य प्रति विधि-पूर्वक पवित्र होकर एक वर्ष तक स्वाध्याय करता है तो उसे नित्य प्रति दूध, दही, घी, शहद मिलता है उसको इनका अभाव नहीं होता।

(२) स्वाध्यायादिष्ट देवतासम्प्रयोगः।

—योग० २।४४

स्वाध्याय से इष्ट देवता का साक्षात् होता है।

(३) योगदर्शन के १।२८ व्यास भाष्य में समन्वय करते हुए स्वाध्याय के विषय में कहा है।

स्वाध्यायाद् योगमासीत योगात् स्वाध्याय मामनेत्। स्वाध्याय योग सम्पत्त्या परमात्मा प्रकाशते॥

अर्थ—स्वाध्याय से योग को प्राप्त करे और योग से स्वाध्याय का अभ्यास करे। इस प्रकार स्वाध्याय और योगरूपी सम्पत्ति से परमात्मा का साक्षात् होता है।

ऋग्वेद और सामवेद में स्वाध्याय के फल का वर्णन करने वाले छह मन्त्र हैं, जिनमें स्वाध्याय के नाना लाभों का विस्तृत वर्णन किया है, उनमें से

केवल तीन मन्त्र यहाँ उद्धृत किये जाते हैं—

पावमानीरध्येत्यृषिभिः सम्भृतं रसम्।
स सर्वं पूतमश्नाति स्वदितं मातरिश्वना॥

—ऋ० ८।६७।३१; साम० उ० अ० १०, कं० ६

पावमानी अर्थात् सबको पवित्र करनेवाली ईश्वर प्रदत्त एवं ऋषियों द्वारा सञ्चित ऋचाओं का जो अध्ययन करता है, वह पवित्र आनन्द रस का आस्वादन करता है।

पावमानीर्दधन्तु न इमं लोकमथो अमुम्।
कामान् समर्धयन्तु नो देवीर्देवैः समाहृताः॥

—सा० उ० अ० १०, ख० ६

पावमानी ऋचाएँ इस लोक और परलोक दोनों को धारण करने में हमारी सहायक हों, देव=उत्तम विद्वान् या श्रेष्ठ इन्द्रियों द्वारा प्राप्त करवाई हुई ये ऋचाएँ हमारी शुभकामनाओं को पूर्ण करें।

पावमानीः स्वस्त्ययनीस्ताभिर्गच्छन्ति नान्दनम्।
पुण्याँश्च भक्षान् भक्षयत्यमृतत्वं च गच्छति॥

—साम० उ० अ० १०, ख० ६

ये पावमानी ऋचाएँ कल्याणकारिणी हैं, इनके द्वारा मनुष्य आनन्द को प्राप्त होते हैं, इन ऋचाओं का अर्थात् वेद का स्वाध्याय करनेवाला इस लोक में उत्तम भोग का उपभोग करता हुआ मोक्ष का अधिकारी बन जाता है। अतएव स्वाध्याय अवश्य करना चाहिए।

स्वाध्याय का उपसंहार करते हुए पाठकों को बताना चाहता हूँ कि महाभाष्यकार पतञ्जलि ने वेद-वेदाङ्ग का स्वाध्याय निष्कारण करना चाहिए। वे लिखते हैं—

ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्मः षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च।

अर्थात् साङ्गोपाङ्ग वेद का पढ़ना और जानना ब्राह्मण का निष्कारण=स्वार्थादि से रहित धर्म है। पुनः वे लिखते हैं—

चतुर्भिः प्रकारैर्विद्योपयुक्ता भवति। आगमकालेन स्वाध्यायकालेन प्रवचनकालेन व्यवहारकालेनेति॥

—महा० अ० १।१।१, आ० १

विद्या चार प्रकार से आती है—आगम, स्वाध्याय, प्रवचन और व्यवहारकाल से। आगमकाल उसे कहते हैं कि जिसमें मनुष्य सावधान होकर, ध्यान देके पढ़ानेवाले से विद्यादि पदार्थ ग्रहण कर सके। स्वाध्यायकाल उसे कहते हैं कि पठन-समय में आचार्य के मुख से जो शब्द, अर्थ और सम्बन्धों की बातें प्रकाशित हों, उन्हें एकान्त में स्वस्थचित्त होकर पूर्वापर विचार के हृदय में ठीक-ठीक दृढ़ कर सके। प्रवचनकाल उसे कहते हैं जिसमें दूसरे को प्रीति से विद्याओं को पढ़ा सकना। व्यवहारकाल उसे कहते हैं कि जब अपने आत्मा में सत्यविद्या होती है, तब यह करना, यह न करना, वही ठीक-ठीक सिद्ध होके वैसा ही आचरण करना हो सके।

स्वाध्याय करके मनुष्य अपने जीवन को व्यावहारिक बनाये, अर्थात् चरितार्थ करे।

श्रावणी उपाकर्म

ऋषि तर्पण

श्रावण सुदि पूर्णिमा

वैदिक धर्म में स्वाध्याय की सर्वोपरि प्रधानता और महिमा बार-बार वर्णन की गई है। उस पर यहाँ तक बल दिया गया है कि वह तारतम्य से प्रत्येक वर्ण और आश्रम के लिए अनिवार्य और आवश्यक रूप से विहित है। चारों वर्णों, प्रथम वर्ण ब्राह्मण का स्वाध्याय (अध्ययनाध्यापन) ही मुख्य कर्त्तव्य है, उसी के कारण ब्राह्मण सब वर्णों में श्रेष्ठ माना गया है और उसको चातुर्वर्ण्य-देह वा विराट् पुरुष का सर्वश्रेष्ठ अङ्ग 'मुख' कहा गया है। क्षत्रिय और वैश्य की भी द्विजन्मा संज्ञा स्वाध्याय से होती है।

आश्रमों में भी प्रथम आश्रम ब्रह्मचर्य की सृष्टि केवल स्वाध्याय के लिए ही हुई है। ब्रह्मचर्य की समाप्ति पर समावर्तन के समय स्नातक को आचार्य

''**स्वाध्यायान्मा प्रमदः।**'', ''**स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम्।**'' का उपदेश देता है जिसका स्पष्ट प्रयोजन यही है कि आगे चलकर गृहस्थाश्रम में भी स्वाध्याय करते रहो और उसमें कभी प्रमाद मत करो गृहस्थ के पश्चात् वानप्रस्थ वा वर्नी का भी प्रधान कर्म स्वाध्याय और तप ही रह जाता है। संन्यासी का भी समय परम तत्त्व-चिन्तन और उपदेश के अङ्गीभूत स्वाध्याय में ही व्यतीत होता है। संन्यासी के लिए आज्ञा है—''**संन्यसेत्सर्वकर्माणि वेदमेकन्न संन्यसेत्।**'' अर्थात् संन्यासी सब कर्मों को त्याग देवे केवल वेद को न त्यागे। स्वाध्याय को इतना महत्त्व देने का उद्देश्य यही है कि जिस प्रकार शरीर की स्थिति और उन्नति अन्न से होती है उसी प्रकार सारे शरीर के राजा मन का भी उत्कर्ष और शिक्षण स्वाध्याय से होता है और यतः मानसिक उन्नति के बिना आत्मिक उन्नति भी नहीं हो सकती, इसलिए स्वाध्याय आत्मिक उन्नति का भी प्रधान साधन है।

मानसिक और आत्मिक उन्नति के बिना केवल शारीरिक उन्नति मनुष्य को मनुष्यता (मननशीलता) से गिराकर पशुत्व, पिशाचत्व और राक्षसत्व की ओर ले जाती है। अतएव स्वाध्याय मनुष्य के लिए अन्नाहार के समान ही आवश्यक और अनिवार्य है। स्वाध्याय के सातत्य से ही मनुष्य मानस मुकुट दर्पण ऐसा स्वच्छ और पारदर्शी बन जाता है कि उसमें परम पुरुष की अनादि सरस्वती का साक्षात्कार उसको होने लगता है। इसी को मन्त्रदर्शन भी कहते हैं। मन्त्रदर्शन से ही मनुष्य ऋषि बन जाते हैं या मन्त्रद्रष्टा ही ऋषि कहलाते हैं। '**ऋषयो मन्त्रद्रष्टारः**' यह निरुक्त में महामुनि यास्क का वचन प्रसिद्ध ही है।

जो वस्तु जिसको प्रिय होती है, उसी से उसकी पूजा और तृप्ति का तर्पण होता है। ऊपर ऋषियों और स्वाध्याय का अभेद्य या समवाय सम्बन्ध दिखलाया जा चुका है, इसलिए ऋषियों की अर्चा तृप्ति या तर्पण स्वाध्याय से बढ़कर और किसी वस्तु

से नहीं हो सकता। जहाँ धर्मशास्त्रों में प्रतिदिन साधारण स्वाध्याय द्वारा ऋषियों के साधारण तर्पण की आज्ञा है, वहाँ इस विषय में मनुस्मृति के निम्नलिखित पद्य प्रमाण रूप से उद्धृत किये जाते हैं—

स्वाध्यायेनर्चयेतर्षीन् होमैर्देवान् यथाविधि।
पितृन् श्राद्धैश्च नृंनन्नैः भूतानि बलिकर्मणा॥

—मनुस्मृति अध्याय ३। श्लोक ७१

स्वाध्याये नित्ययुक्तः स्याद्दैवे चैवेह कर्मणि॥

—मनुस्मृति अध्याय ३। श्लोक ७५

अर्थ—स्वाध्याय से ऋषियों की, होम से देवों की, श्रद्धा से पितरों की, अन्न से नर (अतिथियों) की बलिकर्म (अन्नप्रदान) से (क्षुद्र) प्राणियों की यथाविधि पूजा करे। जहाँ स्वाध्याय और देवकर्म में नित्य तत्पर रहे, वहाँ विशेष अवसरों पर विशेष स्वाध्याय द्वारा विशेष ऋषितर्पण का विधान है, क्योंकि वेदधर्मानुयायियों के यहाँ नित्य और नैमित्तिक कर्मों की शैली सर्वत्र विद्यमान है। इस

समय यहाँ नैमित्तिक ऋषि-तर्पण का ही प्रसङ्ग प्रस्तुत है।

वैदिक काल में वेदों के अतिरिक्त अन्य ग्रन्थों की अविद्यमानता या विरलता के कारण वेदों और वैदिक साहित्य के ही पठन-पाठन का विशेष प्रचार था। वैसे लोग नित्य ही वेदपाठ में रत रहते थे, किन्तु वर्षाऋतु में वेद के पारायण का विशेष आयोजन किया जाता था। इसका कारण यह था कि भारतवर्ष वर्षाबहुल तथा कृषिप्रधान देश है। यहाँ की जनता आषाढ़ और श्रावण में कृषि के कार्यों में विशेषत: व्यस्त रहती है। श्रावणी (सावनी) शस्य की जुताई और बुवाई आषाढ़ से प्रारम्भ होकर श्रावण के अन्त तक समाप्त हो जाती है। इस समय (श्रावण-पूर्णिमा पर) ग्रामीण जनता कृषि के कार्यों से निवृत्ति पाकर तथा भावी शस्य के आगमन से आशान्वित होकर चित्त की शान्ति और अवकाश लाभ करती है। क्षत्रियवर्ग भी इस समय दिग्विजय

यात्रा से विरत हो जाता है। वैश्य भी व्यापार, यात्रा, वाणिज्य और कृषि से विश्राम पाते हैं। इसलिए इस दीर्घ अवकाश-काल में विशेषरूप से वेद के पारायण और प्रवचन में जनता प्रवृत्त होती थी। उधर ऋषि-मुनियों संन्यासी और महात्मा लोग भी वर्षा के कारण अरण्य और वनस्थली को छोड़कर ग्रामों के निकट (Suburb) में आकर रहने लगते थे और वहीं वेदपठन, धर्मोपदेश और ज्ञानचर्चा में अपना चातुर्मास्य (चौमासा) बिताते थे। श्रद्धालु श्रोता और वेदाध्यायी लोग उनके पास रहकर ज्ञान श्रवण और वेद-पाठ से अपने समय को सफल बनाते थे और ऋषियों के इस प्रिय कार्य से उनका (ऋषियों का) तर्पण मनाते थे। जिस दिन से इस विशेष वेदपारायण का उपक्रम (प्रारम्भ) किया जाता था, उसको उपाकर्म कहते थे और यह श्रावण शुदि पूर्णिमा या श्रावण शुदि पञ्चमी को होता था। जैसाकि पारस्कर गृह्यसूत्र के निम्नलिखित सूत्रों में

विहित है—

अथातोऽध्यायोपाकर्म ॥ १ ॥

ओषधीनां प्रादुर्भावे श्रवणेन श्रावण्यां पौर्णमास्या श्रावणस्य पञ्चमी हस्तेन वा ॥ २ ॥

—पार० गृह्य० का० २, कण्डिका १०, सूत्र १, २

इसपर श्रीमद् हरिहर का यह भाष्य है—

''अथ पञ्चमहायज्ञकथनानन्तरम् अध्यायस्य अध्ययनस्य उपाकर्म उपाकरणं (आरम्भः) व्याख्यास्यत इति शेषः। ओषधीनामपामार्गादीनां प्रादुर्भावे उत्पत्तौ सत्यां श्रावणश्च पौर्णमास्या एव विशेषणं तत्र तयोः प्रायशः सम्भवात् एवं च सति पौर्णमास्या एव प्राधान्यं तस्माद् विशेषणाभावेऽपि पौर्णमास्यां भवति। औषधिप्रादुर्भावस्तु सर्वत्रापेक्षितः। श्रावणमासस्य पञ्चमीं हस्तेन युक्तां वा प्राण्यभवति तत्रापि प्रायेण हस्तो भवति अतः श्रावणीपूर्णिमा

श्रावणपञ्चमी वा विशिष्टा अविशिष्टा वा उपाकर्मणः कालः।''

ऋषियों का तृप्तिकारक होने के कारण पीछे से उपाकर्म का नाम ऋषितर्पण भी पड़ गया। यह उपाकर्म वा ऋषितर्पण विशेष विधि से होता था, जिसका विवरण गृह्यसूत्रों में दिया हुआ है और जो उक्त पारस्कर गृह्यसूत्रानुसार आगे चलकर इस पर्व की पद्धति में सविस्तार लिखा जाएगा। इस प्रकार यह विशेष वेदपाठ प्रारम्भ होकर साढ़े चार मास तक नियमपूर्वक बराबर चला जाता था और पौष मास में उसका 'उत्सर्जन' (त्याग वा समापन) होता था। उपाकर्म और उत्सर्जन के विधान विविध गृह्यसूत्रों में नाना अवान्तर भेदों के साथ वर्णित हैं। याज्ञिक काल में कर्मकाण्ड में बहुत-से सूक्ष्माति-सूक्ष्म भेद प्रभेद, प्रचलित हो गये थे और जनता कर्मकाण्ड के मूल उद्देश्यों को भूलकर इन विविध विधानों की सूक्ष्मता वा जटिलता में ही फँसी रहती

थी। उपाकर्म और उत्सर्जन के भिन्न-भिन्न काल ऋग्वेदी सामवेदी और अथर्ववेदियों के लिए नियत हो गये थे, जिससे परस्पर भेदों के बढ़ने के अतिरिक्त और कोई लाभ न था। अस्तु!

मनुस्मृति में उपाकर्म और उत्सर्जन का आदेश निम्नलिखित पद्यों में दिया गया है—

श्रावण्यां प्रौष्ठपद्यां वाप्युपाकृत्य यथाविधि।
युक्तश्छन्दांस्यधीयीत, मासान् विप्रोऽर्ध-पञ्चमान्॥ ९५॥

पुष्ये तु छन्दसां कुर्यात् बहिरुत्सर्जनं द्विजः।
माघशुक्लस्य वा प्राप्ते पूर्वाह्णे प्रथमेऽहनि॥ ९६॥ —मनु० अ० ४। श्लोक ९५, ९६

अर्थ—ब्राह्मणादि श्रावणी वा भाद्रपदी पूर्णिमा को उपाकर्म करके साढ़े चार मास में ध्यानपूर्वक वेदाध्ययन करे॥ ९५॥

पुष्य नक्षत्रवाली पूर्णिमा (पौषी) में वेद का उत्सर्जन नामक कर्म ग्राम के बाहर जाकर करे या माघ शुक्ल के प्रथम दिन के पूर्वाह्ण में करे॥ ९६॥

कई महानुभावों का यह विचार है कि उपाकर्म और उत्सर्जन ब्रह्मचारियों का कृत्य है। उनके मत में उपाकर्म विद्यालयों के खुलने का दिन है और उत्सर्जन गुरुकुलों के सत्र समाप्ति की तिथि है, किन्तु मनुस्मृति और गृह्यसूत्र उनके इस विचार की पुष्टि नहीं करते हैं। मनुस्मृति के द्वितीय अध्याय में ब्रह्मचर्य और ब्रह्मचारी के सर्वकृत्यों का वर्णन समाप्त करके तथा तृतीय अध्याय में पाणिग्रहण तथा पञ्चमहायज्ञ का सविस्तार विधान देकर चतुर्थ अध्याय के प्रारम्भ से "**कृतदारो गृहे वसेत्।**" इत्यादि श्लोक से गृहस्थाश्रम के कर्त्तव्यों और वृत्तियों का वर्णन आरम्भ होता है। उसी के अन्तर्गत उपर्युक्त ९५ और ९६ श्लोकों में उपाकर्म और उत्सर्जन का विधान है। तब उनको ब्रह्मचारियों का कृत्य कैसे माना जा सकता है? इसके अतिरिक्त पारस्कर गृह्यसूत्र के उपर्युक्त सूत्रों के भाष्य में श्री

हरिहर स्पष्ट लिखते हैं।

तच्चाग्निमतोऽध्यापनप्रवृत्तस्यैव भवति छन्दांस्युपाकृत्याधीयन्त इति वचनात्, उपाकरस्य चावसथ्याग्निसाध्यत्वात् निरग्नेर्नाधिकारः।

अर्थ—वह उपाकर्म अग्नि स्थापित किए हुए और अध्यापन में लगे हुए का ही होता है (उसी का कर्त्तव्य है)। ''**छन्दांस्युपाकृत्याधीयन्ते**'' इस वचन से उपाकर्म आवसथ्य नामक अग्नि में ही हो सकता है। उस अग्नि को न स्थापित किये हुए पुरुष को उसका अधिकार नहीं है।

आवसथ्याधानं दारकाले॥ (पारस्कर गृह्यसूत्र प्रथम काण्ड, द्वितीय कण्डिका, प्रथम सूत्र) इस सूत्र से आवसथ्याग्नि विवाह के समय में ही स्थापित होती है। विवाहकाल के अग्नि में उपाकर्म के करने की आज्ञा से स्पष्ट प्रमाणित होता है कि वह गृहस्थों का ही कर्त्तव्य है। श्री वैद्य

हरिशङ्कर जी ने भी अपनी 'त्यौहार-पद्धति' में आगे चलकर स्वीकार किया है कि—

''लोक में प्रचार होने और शास्त्र के अनुसार कर्त्तव्य देखने से यह विदित होता है कि इस मङ्गल दिवस का सम्बन्ध गृहस्थियों से भी अवश्य है।''

युक्तप्रान्तीय भारत धर्म-महामण्डल के प्रस्तावानुसार प्रकाशित 'व्रतोत्सवचन्द्रिका' में भी यह लिखा है कि—

जो छात्र ब्रह्मचर्य को समाप्त करके गार्हस्थ्य में प्रवेश करते थे, वे भी श्रावणी के दिन नित्य वेदपाठ का प्रारम्भ करके माघ में समाप्त करते थे।

गुरुकुलों में उपाकर्म और उत्सर्जन होता होगा, किन्तु यह केवल उन्हीं का पर्व था, ऐसा प्रतीत नहीं होता।

चिरकाल के पश्चात् वेद का पठन-पाठन का प्रचार न्यून हो जाने पर साढ़े चार मास तक नित्य वेद-पारायण की परिपाटी उठ गई और जनता

प्राचीन उपाकर्म और उत्सर्जन के स्मारक रूप में श्रावण सुदि पूर्णिमा को एक ही दिन उपाकर्म और उत्सर्जन की विधियों को पूरा करने लगी। इस बात की पुष्टि 'धर्मसिन्धु' ग्रन्थ के निम्नलिखित उद्धरण से भले प्रकार होती है—

"उत्सर्जनकालस्तु नेह प्रपञ्च्यते, सर्वशिष्टानामिदानीमुपाकर्मदिन एवोत्सर्जनकर्मानुष्ठानाचारेण तन्निर्णयस्यानुपयोगात्।"

अर्थ—यहाँ उत्सर्जन काल का निर्णय नहीं किया जाता है, क्योंकि आजकल सब शिष्ट लोग उपाकर्म के दिन उत्सर्जन भी कर लेते हैं। अत: उसके काल का निर्णय करना व्यर्थ है।

ज्ञात होता है कि यह दोनों कृत्य बहुत काल से एक ही दिन होते चले आये हैं। पीछे से जनता उपाकर्म और उत्सर्जन का नाम भी भूल गई और इस पर्व का नाम केवल ऋषितर्पण और श्रावणी ही प्रसिद्ध हो गया। पहले लोग उस दिन वेद के

कुछ सूक्तों का पाठ कर लेते थे और उसी समय वर्षा ऋतु के विकृत जलवायु के संशोधनार्थ बृहद् हवन यज्ञ भी होता था। उसी अवसर पर सब अपने नवीन यज्ञोपवीत भी बदलते थे, और सम्भव है कि ऋषितर्पण यज्ञ में सम्मिलित होने के चिह्न-स्वरूप से याजक और यजमानों के दाहिने हाथ में रक्षा सूत्र (राखी) भी बाँधे जाते हों और वर्तमान काल में श्रावणी के दिन रक्षा-बन्धन (राखी बाँधने) का यही स्रोत हो, किन्तु इसका प्रमाण भविष्योत्तर पुराण को छोड़कर किसी प्राचीन ग्रन्थ में नहीं पाया जाता।

पौराणिक काल में इस पर्व पर वेद-स्वांध्यायात्मक ऋषितर्पण का सर्वथा लोप हो गया और श्रावणी कर्म के नाम से सर्पों को बलि देने आदि के नवीन विधान प्रचलित हो गये थे। होम यज्ञ का प्रचार भी उठ गया। लोग नदी वा ता़लाब पर जाकर पञ्चगव्यप्राशन, स्नान तथा ऋषितर्पण

के कुछ संस्कृत वाक्य, '**ओं ब्रह्मा तृप्यतां, ओं विष्णुस्तृप्यतां, ओं रुद्रस्तृप्यतां, ओं सनकस्तृप्यतां, ओं सनन्दनस्तृप्यतां, ओं सनातनस्तृप्यतां, ओं कपिलस्तृप्यतां, ओम् आसुरिस्तृप्यतां, ओं वोढस्तृप्यतां, ओं पञ्चशिखस्तृप्यतां**' उच्चारण करके अपने कर्त्तव्य की समाप्ति समझने लगे। आजकल पौराणिक घरों में स्त्रियाँ भित्तियों पर श्रावण की मूर्त्तियाँ गेरू से बनाकर उनको सेवियों से जिमाती हैं। राजपूत काल में अबलाओं के अपनी रक्षार्थ सबल वीरों के हाथ में राखी बाँधने की परिपाटी का प्रचार हुआ है। जिस किसी वीर क्षत्रिय को कोई अबला राखी भेजकर अपना राखी बन्द भाई बना लेती थी, उसकी आयु भर रक्षा करना उसका कर्त्तव्य हो जाता था। चित्तौड़ की महारानी कर्णवती ने मुगल बादशाह हुमायूं को गुजरात के बादशाह से अपनी रक्षार्थ राखी भेजी थी, जिससे उसने चित्तौड़

पहुँचकर तत्काल अन्त समय पर उसकी सहायता की थी और चित्तौड़ का बहादुरशाह के आक्रमण से उद्धार किया था। तब से बहुत से प्रान्तों में यह प्रथा प्रचलित है कि भगिनियाँ और पुत्रियाँ अपने भ्राताओं और पिताओं के हाथ में श्रावणी के दिन राखी बाँधती हैं और वे उनसे कुछ द्रव्य और वस्त्र पाती हैं। यदि यह प्रथा पुत्री और भगिनी-वात्सल्य को दृढ़ करनेवाली मानी जाए तो उसके प्रचलित रहने में कोई क्षति भी नहीं है।

आजकल की श्रावणी को प्राचीनकाल के उपाकर्म-उत्सर्जन वेदस्वाध्यायरूप ऋषितर्पण और वर्षाकालीन बृहद् हवन-यज्ञ (वर्षा चातुर्मास्येष्टि) का विकृत तथा नाममात्र शेष स्मारक समझना चाहिए और प्राचीन प्रणाली के पुनरुज्जीवनार्थ उसको बीजमात्र मानकर उसको अंकुरित करके पत्रपुष्प सफलसमन्वित विशाल वृक्ष का रूप देने का उद्योग करना चाहिए।

आर्य पुरुषों को उचित है कि श्रावणी के दिन बृहद् हवन और विधिपूर्वक उपाकर्म करके वेद तथा वैदिक ग्रन्थों के विशेष स्वाध्याय का उपाकर्म करें और उसको यथाशक्ति और यथावकाश नियमपूर्वक चलाते रहें।

—पं० भवानीप्रसाद-कृत
आर्यपर्व-पद्धति से उद्धृत।

श्रावणी पर्व

आर्यों के सामाजिक और वैयक्तिक जीवन में पर्वों का सदा से स्थान रहा है। धरा पर सभी मानवजातियाँ किसी-न-किसी प्रकार का पर्व मनाती ही हैं। पर्व शब्द का अर्थ पूरक भी है और ग्रन्थि भी है। यह जहाँ आनन्द से पूरित करता है वहाँ ग्रन्थि होने से धारक भी है। ईख के रस को ईख की ग्रन्थि सुरक्षित रखती है और बाँस आदि की दृढ़ता को उसकी गाँठें स्थिर रखती हैं। इसी प्रकार शरीर की स्थिति-स्थापकता शरीर की ग्रन्थियों द्वारा सुरक्षित है।

श्रावणी आर्यों के प्रसिद्ध पर्वों में से एक महान् पर्व है। यह पर्व वैदिक पर्व है। इसका सीधा सम्बन्ध वेद के अध्यापन और अध्ययन करनेवालों से है। गृह्यसूत्रों के अनुसार इस पर्व का सीधा सम्बन्ध वेद और वैदिकों से दिखलाया गया है। यह पर्व जहाँ पर्व है वहाँ यह एक गृह्यकर्म भी है।

गृह्यसूत्रों के अनुसार श्रावणी कर्म भी इसी अवसर पर होता है और उपाकर्म वेदाध्ययन का प्रारम्भ होता है। चार मास वर्षा के होते हैं। इन में बराबर वेदाध्ययन चलता रहता था और पौष में जाकर उत्सर्ग किया जाता था। इसी आधार को लेकर आर्यसमाज ने वेद सप्ताह का इस अवसर पर आयोजन किया। वेद के अध्ययन के मार्ग को महर्षि दयानन्द सरस्वती ने प्रशस्त किया। अतः उनके द्वारा स्थापित वेद प्रचारक आर्यसमाज का यह कर्त्तव्य है कि वह वेद के प्रचार को बढ़ावे।

श्रावणी नाम इस पर्व का क्यों है? इसका उत्तर यह है कि श्रवण नक्षत्र से युक्त पूर्णिमा को यह पर्व होता है, अतः यह श्रावणी है। इसी श्रावणी पूर्णिमा के आधार पर ही इस मास का नाम भी श्रावण मास है। इस श्रावणी की भी विधि है और वह गृह्यसूत्रों और हमारी पर्व-पद्धति में लिखी है—जो प्रत्येक आर्य और आर्यसमाज को करनी चाहिए।

यह सब होने पर भी कुप्रथाओं और सुप्रथाओं के बीच में चलनेवाले आर्यों में भी श्रावणी के वास्तविक स्वरूप के विषय में कहीं-कहीं पर अनभिज्ञता ही दिखाई पड़ती है। हमारे पत्र-पत्रिकाओं में भी ऐसी बातें कभी-कभी निकल जाती हैं। दीपावली के विषय में राम की लङ्का विजय के बाद की दीपावली कारण बताई जाती है और होली के विषय में प्रह्लाद का सम्बन्ध जोड़ा जाता है। ये दोनों ही कल्पनाएँ भ्रान्त और गलत हैं। वस्तुतः ये दोनों ही गृह्य कर्म हैं। इसी प्रकार रक्षाबन्धन पर्व के अतिरिक्त और कुछ नहीं समझा जाता है। रक्षा बाँधने की प्रथा बीच में किसी समय प्रारम्भ हुई, परन्तु श्रावणी तो वैदिक गृह्यकर्म है। वह बहुत पहले भी था और अब भी है।

एक दिन एक आर्य सज्जन कहने लगे कि श्रावणी के दिन ही चारों वेदों का ज्ञान सृष्टि के प्रारम्भ में मिला था, इसलिए यह श्रावणी पर्व

मनाया जाता है। मुझे बड़ा ही आश्चर्य हुआ, क्योंकि जहाँ तक मेरा ज्ञान है मैंने ऐसी बात कहीं नहीं पढ़ी है। यह सम्भव नहीं, ऐसी-ऐसी अनेक कल्पनाएँ लोग बना लेते हैं। मेरे कहने का तात्पर्य यही है कि श्रावणी के विषय में ऐसी कल्पनाओं को आधार नहीं बनाना चाहिए। उसके शुद्ध स्वरूप को समझना चाहिए। रक्षा बाँधने का लौकिक और सामाजिक कृत्य भी इसी दिन पड़ता है। यह ठीक है, परन्तु यह प्रथा इस पर्व का कारण नहीं।

श्रावणी और स्वाध्याय

जैसा ऊपर कहा गया है वेदाध्ययन का इस पर्व से सीधा सम्बन्ध है। श्रावणी मनाने का एक उत्तम तरीका यह है कि वेदादि सच्छास्त्रों का स्वाध्याय इस पर्व से अवश्य चालू किया जाये। स्वाध्याय जीवन का अङ्ग होना चाहिए, परन्तु ऐसे पर्वों के अवसरों से प्रेरणा लेकर ही यदि हम इस प्रवृत्ति को बढ़ायें तो अच्छा हो।

''आर्यों के जीवन का स्वाध्याय एक अङ्ग है। स्वाध्याय में प्रमाद का हमारे शास्त्रों में निषेध है। स्वाध्याय (Self Study) का ज्ञान के परिवर्धन में बहुत बड़ा महत्त्व है। शतपथ ब्राह्मण ११।५।७।१ में स्वाध्याय की प्रशंसा करते हुए लिखा गया है कि स्वाध्याय करनेवाला सुख की नींद सोता है, युक्तमना होता है, अपना परम चिकित्सक होता है, उसमें इन्द्रियों का संयम और एकाग्रता आती है और प्रज्ञा की अभिवृद्धि होती है।''

यहाँ पर ब्राह्मण ग्रन्थ का प्रत्येक शब्द महत्त्व से भरा हुआ है। पुन: उसी ब्राह्मण में ११।५।७।१० में कहा गया है कि स्वाध्याय न करनेवाला अब्राह्मण हो जाता है। अत: प्रतिदिन स्वाध्याय करना चाहिए और ऋक्, यजुः, साम, अथर्व आदि को पढ़ना चाहिए जिससे व्रत का भङ्ग न होवें। ब्राह्मण ग्रन्थ स्वाध्याय को अन्य व्रतों की भाँति एक व्रत बतला रहा है। शतपथ ११।५।६।२ में इस स्वाध्याय को ब्राह्मण कहा गया है और आगे चलकर बताया गया है कि इस यज्ञ की वाणी जुहू है। मन उपभृत है, चक्षु ध्रुवा और मेधा स्रुवा है और सत्य इसका अवभृथ है। इस प्रकार स्वाध्याय की शास्त्रों में महती महिमा गायी गई है। ऋग्वेद में स्वयं इसका सुन्दर वर्णन है। वर्षाकाल में मेंढक बोलते हैं। एक की बोली को दूसरा दुहराता है। यह उपमा ऋग्वेद में वेदपाठी ब्राह्मण को दी गई है, क्योंकि वे इस चातुर्मास्य के समय में वेद को पढ़ते

हैं। वस्तुत: वेद का मण्डूक शब्द और यह उपमा निर्देशन का महत्त्व लिये हैं। इससे सुन्दर सम्मिश्रण वेदवाणी, मण्डूक की वाणी और मानसून-मेघस्य वाणी का और कब हो सकता है? इस वर्षा की ऋतु में वेदज्ञ के मुख से निकली वेदवाणी, मानसून की गड़गडाहट से निकली मध्यमा वाणी और मेंढकों की अनिरुक्त अव्यक्त वाणी—परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी के अनिरुक्त रूप की प्रतीक हैं और इस वर्षा की ऋतु में इन सबका समन्वय हो जाता है। अत: स्वाध्याय की प्रवृत्ति को प्रत्येक आर्य को बढ़ाना चाहिए—यही यहाँ पर मेरा निवेदन है।

यज्ञोपवीत और श्रावणी

श्रावणी के साथ नये यज्ञोपवीत के धारण और पुराने के छोड़ने की भी प्रथा जुड़ी हुई है। इसका भी प्रधान कारण है। गृह्यसूत्रों में विभिन्न कर्मों के समय विभिन्न प्रकार से यज्ञोपवीत के धारण करने का विधान है। निवीति, उपवीति, प्राचीनावीति आदि संज्ञाएँ इसी आधार पर हैं। यह भी एक गृह्यसूत्रों के आधार पर परिपाटी है कि प्रत्येक प्रधान उत्तम यज्ञ-याग आदि कर्मों के समय नया यज्ञोपवीत धारण किया जाये। उसी आधार की पोषिका यह श्रावणी पर यज्ञोपवीत बदलने की प्रथा भी है। यज्ञोपवीत का आर्यों के संस्कार और कर्मकाण्ड में बड़ा ही महत्त्व है। यज्ञोपवीत के तीन धागे गले में पड़ते ही वह पितृऋण, देवऋण और ऋषि ऋण आदि कर्त्तव्यों से अपने को बन्धा हुआ समझने लगता है। यहाँ उपनयन, यज्ञोपवीत, व्रतबन्ध आदि पद इस सम्बन्ध में विशेष महत्त्व

के हैं। आचार्य कुल में विद्यार्थी लाया जाता है इसी क्रमपूर्वक, अतः यह उपनयन है। यज्ञ और उत्तम कर्मों के लिए विद्यार्थी इससे प्रतिज्ञात और अधिकृत होता है अतः यज्ञोपवीत है। इससे अनुशासन और व्रतों के पालन की प्रतिज्ञा में बद्ध होता है अतः यह व्रतबन्ध है। वेदों में भी इस यज्ञोपवीत धारण का वर्णन है। उसी को लेकर अन्यत्र शास्त्रों में इसका पल्लवन किया गया है। ऋग्वेद १०।५७।२ मन्त्र में कहा गया है कि—जो तन्तु यज्ञोपवीत-तन्तु यज्ञों का प्रसाधक है और विद्वानों में आतत है उसको हम धारण करें। यद्यपि इस मन्त्र में बहुत-से तथ्य छिपे हैं, परन्तु विस्तार भय से यहाँ पर उनका वर्णन नहीं किया जा रहा है।

—आचार्य वैद्यनाथ शास्त्री

स्वाध्यायशील श्रीराम

प्राचीन काल के महापुरुष ऋषि लोग वेदों के ज्ञाता थे। उदाहरणार्थ—

(१) वाल्मीकि रामायण में मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीरामचन्द्र वेद-वेदाङ्ग के ज्ञाता, धनुर्वेद में निष्णात और गुरुकुल के स्नातक थे।

तपः स्वाध्याय निरतं तपस्वी वाग्विदां वरम्।
नारदं परिपप्रच्छ वाल्मीकिर्मुनिपुङ्गवम्॥ १॥

तप और स्वाध्याय में रत, वक्ताओं में निपुण और मुनियों में श्रेष्ठ नारदजी से तपस्वी वाल्मीकि मुनि ने पूछा—

कोन्वस्मिन्सांप्रतं लोके गुणवान्कश्च वीर्यवान्। धर्मज्ञश्च कृतज्ञश्च सत्यवाक्यो दृढव्रतः॥

भगवन्! इस समय इस संसार में गुणवान्, शूरवीर, धर्मज्ञ, कृतज्ञ, सत्यवादी और दृढ़-प्रतिज्ञ कौन है?

श्रीराम के बहुत-से गुणों का वर्णन किया वहाँ वैदिक विद्वान् वेद-वेदाङ्ग के जाननेवाला भी बताया गया है।

रक्षिता स्वस्य धर्मस्य स्वजनस्य च रक्षिता।
वेदवेदाङ्गतत्त्वज्ञो धनुर्वेदे च निष्ठितः॥

—बालकाण्ड प्रथम सर्ग १४

श्रीराम प्रजा के पालक धर्म के रक्षक हैं, स्वजनों के पालक हैं, वेद और वेदाङ्गों के ज्ञाता तथा धनुर्वेद में निष्णात हैं।

सर्वशास्त्रार्थ तत्त्वज्ञः स्मृतिमान्प्रतिभानवान्।
सर्वलोकप्रियः साधुरदीनात्मा विचक्षणः॥ १५॥

भगवान् श्रीराम सब शास्त्रों के तत्त्वों को अच्छी तरह से जाननेवाले हैं, स्मृतिशाली और प्रतिभाशाली हैं, सर्वप्रिय, सज्जन अपनी आत्मा में कभी दीनता नहीं होने देते और कार्य कुशल हैं। वाल्मीकि रामायण सुन्दरकाण्ड में वेदों का अध्ययन किया लिखा है—

यजुर्वेद विनीतश्च वेदविद्भिः सुपूजितः।
धनुर्वेदे च वेदे च वेदाङ्गेषु च निष्ठितः॥

—वा० रामा० सुन्दर० सर्ग ३५

श्रीराम यजुर्वेद के ज्ञाता, वैदिक विद्वानों से सम्मानित, धनुर्वेद तथा वेद-वेदाङ्गों में पारङ्गत हैं।

सर्वविद्याव्रत स्नातो यथावत् साङ्गवेदवित्।

—अयो० १।२०

गुरुकुल में पढ़कर श्रीराम सर्वविद्याव्रत स्नातक है तथा छहों अङ्गोंसहित सम्पूर्ण वेदों के ज्ञाता थे।

श्रीराम के विषय में युद्धकाण्ड में लिखा है—

यस्मिन् न चलते धर्मो यो धर्मं नातिवर्त्तते।
यो ब्रह्मास्त्रं वेदांश्च हि वेदविदां वरः॥

—युद्धकाण्ड २८।१९

अर्थ—श्रीराम से धर्म कभी पृथक् नहीं है श्रीराम धर्म का कभी उल्लङ्घन नहीं करते । वे ब्रह्मास्त्र और वेद दोनों के ज्ञाता हैं तथा वेदवेत्ताओं में श्रेष्ठ हैं।

इस प्रकार से मर्यादा पुरुषोत्तम राम सहित

चारों भाई गुरुकुल के स्नातक और वेदों के ज्ञाता थे।

(२) वीर हनुमान् व्याकरण के महाज्ञाता थे

नानृग्वेदविनीतस्य नायजुर्वेदधारिणः।
नासामवेदविदुषः शक्यमेवं विभाषितुम्॥ २८॥
नूनं व्याकरणं कृत्स्नमनेन बहुधा श्रुतम्। बहु व्याहरतानेन न किञ्चिदपशब्दितम्॥ २९॥

—किष्किन्धा० सर्ग ३

श्रीराम वीर हनुमानजी के विषय में लक्ष्मण से कहते हैं—

जिसे ऋग्वेद की शिक्षा नहीं मिली, जिसने यजुर्वेद का धारण नहीं किया तथा जो सामवेद का विद्वान् नहीं है, वह ऐसी सुन्दर शैली में किसी से वार्तालाप नहीं कर सकता है। निश्चय से इन्होंने सम्पूर्ण व्याकरण का बहुत बार अध्ययन किया है,

क्योंकि वीर हनुमान् के कई बार बोलने पर भी इनके मुँह से अशुद्धि नहीं दिखाई दी। इसलिए वीर हनुमान् वेद सहित व्याकरण के भी ज्ञाता थे।

(३) रावण गुरुकुल का स्नातक था

वेदविद्याव्रतस्नातः स्वकर्मनिरतस्तपाः।
स्त्रियः कस्माद् व धो वीर मन्यसे राक्षसेश्वर॥

—युद्धकाण्ड ९२।६४

रावण गुरुकुल में गुरु द्वारा वेद-विद्याव्रत स्नातक उपाधि से अलङ्कृत था। सुपार्श्व नामक बुद्धिमान् रावण के मन्त्री ने रावण से कहा—

हे रावण! तू वेद-विद्याव्रत स्नातक तथा स्वकर्मपरायण होकर स्त्रीवध (सीता का वध) क्यों करना चाहता है? रावण वेद का ज्ञाता होने पर भी उसका आचरण ठीक नहीं था। इसीलिए तो कहा है कि—**आचारहीनं न पुनन्ति वेदाः।** आचारहीन को वेद भी पवित्र नहीं करते।

(४) वेदों का ज्ञाता आचार्य द्रोण

अग्रतश्चतुरो वेदाः पृष्ठतः सशरं धनुः।
इदं ब्राह्ममिदं क्षात्रं शापादपि शरादपि॥

आचार्य द्रोण कहते हैं कि—मेरे आगे चारों वेद हैं पीछे धनुष और बाण हैं। आगे ब्रह्मशक्ति है और पीछे क्षात्रशक्ति। मैं शाप और शर दोनों से शत्रुओं का मान-मर्दन कर सकता हूँ।

(५) वेद-वेदाङ्ग के ज्ञाता श्रीकृष्ण

वेदवेदाङ्गविज्ञानं बले चाप्यधिकं तथा। नृणां लोके हि कोऽन्योऽस्ति विशिष्टः केशवादृते॥
दानं दाक्ष्यं श्रुतं शौर्यं ह्रीः कीर्तिर्बुद्धिरुत्तमा। सन्नतिः श्रीधृतिस्तुष्टिः पुष्टिश्च नियताच्युते॥

—सभा० ३८।१९-२०

भीष्म शिशुपाल को उत्तर देते हुए कहते हैं—

श्रीकृष्ण में वेद-वेदाङ्ग, विज्ञान और बल आदि सभी गुण मौजूद हैं। अर्थात् इस समय मनुष्य लोक में श्रीकृष्ण से बढ़कर कौन है। दान, दया, बुद्धि, वेदादि शास्त्रों का श्रवण, शूरता, बुरे कार्यों

में लज्जा, कीर्ति, उत्तम बुद्धि, नम्रता, तेजस्विता, धैर्य, सन्तोष, सभी गुणों में इन्होंने अनुपम ख्याति प्राप्त की है। ये गुरुओं के चरणों में पढ़कर गुरुकुल से स्नातक हुए।

(६) महर्षि भरद्वाज वेदों के ज्ञाता थे

भरद्वाजो ह त्रिभिरायुर्भिर्ब्रह्मचर्यमुवास। तं ह जीर्णं स्थविरं शयानम् इन्द्र उपव्रज्योवाच। भारद्वाज! यत्ते चतुर्थमायुर्दद्यां किमनेन कुर्या इति। ब्रह्मचर्यमे वैतेन चरयेमिति होवाच। तं त्रीन् गिरिरूपान् विज्ञातानिव दर्शयाञ्चकार तेषां हैकैकस्मान्मुष्टिमाददे। स होवाच भरद्वाजेत्यामन्त्र्य वेदा वा एते, अनन्ता वै वेदाः एतैस्त्रिभिरायुर्भिरन्ववोचथाः अतस्त इतरदनूक्तमेव॥ —तै० ब्रा० ३।१०।११।३

अर्थात् भरद्वाज ने ३०० वर्ष पर्यन्त (मनुष्य की ३ आयु शतायुर्वै पुरुषः के अनुसार १००×३= ३०० ब्रह्मचर्य अर्थात् वेदों का अध्ययन किया। इस प्रकार अध्ययन करते-करते वह जब अत्यन्त वृद्धावस्था को प्राप्त हो गया तो इन्द्र ने उसके समीप

आकर कहा यदि तुझे और भी आयु मिले तो तू उससे क्या करेगा? भरद्वाज ने उत्तर दिया कि उससे भी मैं वेदों का अध्ययनादि रूप ब्रह्मचर्य ही करूँगा। इन्द्र ने पर्वत के समान तीन ज्ञान राशिरूप वेदों को दिखाया और उनमें से प्रत्येक राशि से मुट्ठी-सी भरली और भरद्वाज को कहा कि ये वेद इस प्रकार ज्ञान की राशि या पर्वत के समान हैं जिनके ज्ञान का कहीं अन्त नहीं। यद्यपि तूने ३ आयु पर्यन्त (३०० वर्ष तक) वेदों का अध्ययन किया है तथापि तुझे उनके सम्पूर्ण ज्ञान का अन्त नहीं प्राप्त हुआ।

स्वाध्यायरत नारद और सनत्कुमार का प्रश्नोत्तर

कहते हैं कि एक बार सनत्कुमार अर्थात् सदा कुमार-रूप रहनेवाले ऋषि के पास नारदमुनि पहुँचे और उनसे कहा, भगवन्! मुझे ज्ञान दीजिए। ऋषि ने कहा, जो कुछ तुम पहले जानते हो वह बतलाओ, तब मैं उससे आगे तुम्हें शिक्षा दूँगा। नारद ने कहा—

ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि यजुर्वेदं सामवेद-माथर्वणं चतुर्थमितिहासपुराणं पञ्चमं वेदानां वेदं पित्र्यं राशिं दैवं निधिं वाकोवाक्यमे-कायनं देवविद्यां ब्रह्मविद्यां भूतविद्यां क्षत्र-विद्यां सर्पदेवजनविद्यामेतद् भगवोऽध्येमि॥

भगवन्! मैंने ऋग्वेद पढ़ा है, यजुर्वेद, सामवेद और चौथा अथर्ववेद, पाँचवाँ इतिहास-पुराण, वेदों के वेद (अर्थात् जिससे वेद स्पष्ट हो जाते हैं), पित्र्य (शूश्रूषा-विज्ञान) राशि (गणित) दैवविद्या (उत्पत्ति-विज्ञान), वाकोवाक्य (तर्कशास्त्र या कानून), एकायन (नीतिशास्त्र-अर्थशास्त्र), देवविद्या (निरुक्त), ब्रह्म-विद्या (ब्रह्म का ज्ञान) भूत-विद्या (भौतिकी रसायन तथा प्राणि-शास्त्र) क्षत्र-विद्या (धनुर्विद्या), नक्षत्रविद्या (ज्योतिष), सर्प विद्या (विष-ज्ञान), देवजनविद्या (ललित कला)—इन्हें भी पढ़ा है।

भगवन्! यह सब-कुछ पढ़कर मैं 'मन्त्रवित्' हुआ हूँ, 'आत्मवित्' नहीं हुआ—मुझे शब्दज्ञान तो हो गया है, आत्मज्ञान नहीं हुआ है।

वेदोद्धारक महर्षि दयानन्द

यह व्यक्ति निर्भय, न्यायकर्त्ता, सर्व प्राणिहितकर, दीर्घदर्शी, समदृष्टि, पक्षपात रहित, प्रभावशाली, प्रतिभावान, महासमीक्षक, महासंशोधक, तेजस्वी, ब्रह्मवर्चस्वी, ब्रह्मवित, ब्रह्मपरायण, बालब्रह्मचारी, ऊर्ध्वरेता, सुवक्ता, वाग्मी, जितेन्द्रिय, योगीराज, आचार्यों का आचार्य, गुरुओं का गुरु, पूज्यों का पूज्य, जगद्वन्द्य, प्रहसितवदन, प्रांशुबाहु, समुन्नतकाय, सदा आनन्द, निर्मल, निर्विकार, समुद्रवत् गम्भीर, पृथिवीवत् क्षमाशील, अग्निवत् देदीप्यमान, पर्वतवत् कर्त्तव्यस्थिर, सदागति, वायुवत् निरालस, रामवत् लोकहितकारी, परशुरामवत् अन्याय संहारी, बृहस्पतिवत् वेदवक्ता, वसिष्ठवत् वेदप्रचारक, असत्य का परमद्वेषी, सत्य का परम पक्षपाती, आर्यावर्त्त का मान्य पिता महर्षि दयानन्द था।

—पं० शिवशङ्कर काव्यतीर्थ

—वेदतत्त्व प्रकाश भाग ५

—वैदिक इतिहासार्थ निर्णय भूमिका पृष्ठ २९

चारों वर्णों के कर्त्तव्य, कर्म और गुण

अथ ब्राह्मणस्वरूपलक्षणम्

अध्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा।
दानं प्रतिग्रहञ्चैव ब्राह्मणानामकल्पयत्॥ १॥

—मनु० १।८८

शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम्॥ २॥

—गीता० १८।४२

अर्थ—१. निष्कपट होके प्रीति से पुरुष पुरुषों को स्त्री स्त्रियों को पढ़ावें। २. पूर्ण विद्या पढ़ें। ३. अग्निहोत्रादि यज्ञ करें। ४. यज्ञ करावें। ५. विद्या अथवा सुवर्ण आदि का सुपात्रों को दान देवें। ६. न्याय से धनोपार्जन करनेवाले गृहस्थों से दान लेवें। इनमें से तीन कर्म पढ़ना, यज्ञ करना, दान देना धर्म में और तीन कर्म पढ़ाना, यज्ञ कराना, दान लेना जीविका है। परन्तु—

प्रतिग्रहः प्रत्यवरः॥ —मनु०

जो दान लेना है, वह नीच कर्म है। किन्तु पढ़ा के और यज्ञ कराके जीविका करनी उत्तम है॥ १॥

(शमः) मन को अधर्म में न जाने दे, किन्तु अधर्म करने की इच्छा भी न उठने देवे। (दमः) श्रोत्रादि इन्द्रियों को अधर्माचरण से सदा दूर रक्खे, दूर रखके धर्म ही के बीच में प्रवृत्त रक्खे। (तपः) ब्रह्मचर्य, विद्या, योगाभ्यास की सिद्धि के लिए शीत, उष्ण, निन्दा, स्तुति, क्षुधा, तृषा, मानापमान आदि द्वन्द्व का सहना। (शौचम्) राग-द्वेष मोहादि से मन और आत्मा को तथा जलादि से शरीर को सदा पवित्र रखना। (क्षान्तिः) क्षमा अर्थात् कोई निन्दा स्तुति आदि से सतावें तो भी उन पर कृपालु रह कर क्रोधादि का न करना। (आर्जवम्) निरभिमान रहना, दम्भ स्वात्म-श्लाघा अर्थात् अपने मुख से अपनी प्रशंसा न करके नम्र सरल शुद्ध पवित्र भाव रखना। (ज्ञानम्) सब शास्त्रों को पढ़के विचार कर उनके शब्दार्थ सम्बन्धों को यथावत् जानकर पढ़ाने का पूर्ण सामर्थ्य करना।

(विज्ञानम्) पृथिवी से लेके परमेश्वर पर्यन्त पदार्थों को जान और क्रियाकुशलता तथा योगाभ्यास से साक्षात् करके यथावत् उपकार ग्रहण करना-कराना, (आस्तिक्यम्) परमेश्वर, वेद, धर्म, परलोक, परजन्म, पूर्वजन्म, कर्मफल और मुक्ति से विमुख कभी न होना। ये नव कर्म और गुण धर्म में समझना। सबसे उत्तम गुण, कर्म, स्वभाव को धारण करना। ये गुण कर्म जिस व्यक्ति में हों वे ब्राह्मण और ब्राह्मणी होवें। विवाह भी इन्हीं वर्ण के गुण, कर्म, स्वभावों को मिला के ही करें। मनुष्यमात्र में से इन्हीं को ब्राह्मणवर्ण का अधिकार होवे॥ २॥

अथ क्षत्रियस्वरूपलक्षणम्

प्रजानां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च।
विषयेष्वप्रसक्तिश्च क्षत्रियस्य समासतः॥ १॥

—मनु० १।८९

शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम्।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रकर्म स्वभावजम्॥ २॥

—गीता० १८।४३

अर्थ—दीर्घ ब्रह्मचर्य से (अध्ययनम्) साङ्गोपाङ्ग वेदादि शास्त्रों को यथावत् पढ़ना, (इज्या) अग्निहोत्रादि यज्ञों का करना, (दानम्) सुपात्रों को विद्या सुवर्ण आदि और प्रजा को अभयदान देना, (प्रजानां रक्षणम्) प्रजाओं का सब प्रकार से सर्वदा यथावत् पालन करना, यह धर्म क्षत्रियों के धर्म के लक्षणों में और शस्त्रविद्या का पढ़ाना, न्यायधर और सेना में जीविका करना क्षत्रियों की जीविका है। (विषयेष्वप्रसक्तिः) विषयों में अनासक्त हो के सदा जितेन्द्रिय रहना, लोभ, व्यभिचार, मद्यपानादि, नशा आदि दुर्व्यसनों से पृथक् रहकर विनय सुशीलतादि शुभ कर्मों में सदा प्रवृत्त रहना॥ १॥

(शौर्यम्) शस्त्र, संग्राम, मृत्यु और शस्त्रप्रहारादि से न डरना, (तेजः) प्रगल्भता, उत्तम प्रतापी होकर किसी के सामने दीन वा भीरु न होना, (धृतिः) चाहे कितनी ही आपत् विपत् क्लेश, दुःख प्राप्त हो

तथापि धैर्य रखके कभी न घबराना, (दाक्ष्यम्) संग्राम, वाग्युद्ध, दूतत्व, न्याय, विचार आदि सब में अतिचतुर, बुद्धिमान् होना, (युद्धे चाप्यपलायनम्) युद्ध में सदा उद्यत रहना, युद्ध से घबराकर शत्रु के वश में कभी न होना, (दानम्) इसका अर्थ प्रथम श्लोक में आ गया, (ईश्वरभावः) जैसे परमेश्वर सबके ऊपर दया करके पितृवत् वर्त्तमान, पक्षपात छोड़कर धर्माऽधर्म करनेवालों को यथायोग्य सुख-दुःखरूप फल देता और अपने सर्वज्ञता आदि साधनों से सबका अन्तर्यामी होकर सबके अच्छे-बुरे कर्मों को यथावत् देखता है, वैसे प्रजा के साथ वर्त्तकर गुप्त दूत आदि से अपने को सब प्रजा वा राजपुरुषों के अच्छे-बुरे कर्मों से सदा ज्ञात रखना, रात-दिन न्याय करने और प्रजा को यथावत् सुख देने, श्रेष्ठों का मान और दुष्टों को दण्ड करने में सदा प्रवृत्त रहना, सब प्रकार से अपने शरीर को रोगरहित, बलिष्ठ, दृढ़, तेजस्वी, दीर्घायु रखके

आत्मा को न्याय धर्म में चलाकर कृतकृत्य करना आदि गुण कर्मों का योग जिस व्यक्ति में हो वह क्षत्रिय और क्षत्रिया होवे। इनका भी इन्हीं गुण कर्मों के मेल से विवाह करना और जैसे ब्राह्मण पुरुषों और ब्राह्मणी स्त्रियों को पढ़ावे वैसे ही राजा पुरुष और रानी स्त्रियों का न्याय तथा उन्नति सदा किया करे। जो क्षत्रिय राजा न हों वे भी राज में ही यथाधिकार से नौकरी किया करें॥ २॥

अथ वैश्यस्वरूपलक्षणम्

पशूनां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च।
वणिक्पथं कुसीदं च वैश्यस्य कृषिमेव च॥ १॥

—मनु० १।९०

कृषि गौरक्ष्य वाणिज्यं वैश्य कर्म स्वभावजम्॥ २॥ —गीता० १८।४४

अर्थ—(अध्ययनम्) वेदादि शास्त्रों का पढ़ना, (इज्या) अग्निहोत्रादि यज्ञों का करना, (दानम्) अन्नादि का दान देना ये तीन धर्म के लक्षण और

(पशूनां रक्षणम्) गाय आदि पशुओं का पालन करना, उनसे दुग्धादि का बेचना (वणिक्पथम्) नाना देशों की भाषा, हिसाब, भूगर्भविद्या, भूमि बीज आदि के गुण जानना और सब पदार्थों के भावाभाव समझना, (कुसीदम्) ब्याज का लेना (कृषिमेव च) खेती की विद्या का जानना, अन्न आदि की रक्षा, खाद और भूमि की परीक्षा, जोतना, बोना आदि व्यवहार जानना, ये चार कर्म वैश्य की जीविका हैं। ये गुण कर्म जिस व्यक्ति में हों वह वैश्य वैश्या और इन्हीं की परस्पर परीक्षा और योग से विवाह होना चाहिए॥ १ ॥

गौ इत्यादि पशुओं का पालन और वर्धन करना। विद्या और धर्म की वृद्धि करने कराने के लिए धनादि का व्यय करना। यज्ञ करना वेदादि शास्त्रों का पढ़ना, सब प्रकार का व्यापार करना। उचित ब्याज लेना। खेती करना वैश्य में ये गुण स्वभाव रूप हो जाने चाहिए॥ २ ॥

अथ शूद्रस्वरूपलक्षणम्

एकमेव हि शूद्रस्य प्रभुः कर्म समादिशत्।
एतेषामेव वर्णानां शुश्रूषामनसूयया॥ १ ॥

—मनु०

परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम्॥ २ ॥

—गीता० १८।४४

अर्थ—(प्रभुः) परमेश्वर ने (शूद्रस्य) जो विद्याहीन, जिसको पढ़ने से भी विद्या न आ सके, शरीर से पुष्ट, सेवा में कुशल हो, उस शूद्र के लिए (एतेषामेव वर्णानाम्) इन ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तीनों वर्णों की (अनसूयया) निन्दा से रहित प्रीति से सेवा करना (एकमेव कर्म) यही एक कर्म (समादिशत्) करने की आज्ञा दी है। ये मूर्खत्वादि गुण और सेवा आदि कर्म जिस व्यक्ति में हों वह शूद्र और शूद्रा है। इन्हीं की परीक्षा से इनका विवाह और इनको अधिकार भी ऐसा ही होना चाहिए। इन गुण कर्मों के योग ही से चारों वर्ण होवें तो उस

कुल, देश और मनुष्य समुदाय की बड़ी उन्नति होवे, और जिनका जन्म जिस वर्ण में हो उसी के सदृश गुण कर्म स्वभाव हो तो बात विशेष है ॥ १ ॥

परमेश्वर ने जो विद्याहीन, जिसको पढ़ने से भी विद्या न आ सके, शरीर से पुष्ट, सेवा में कुशल हो उस शूद्र के लिए इन ब्राह्मण क्षत्रिय, वैश्य तीनों वर्णों की निन्दा रहित प्रीति से सेवा करना यही एक कर्म करने की आज्ञा है ॥ २ ॥

वर्ण परिवर्त्तन

शूद्रो ब्राह्मणतामेति ब्राह्मणश्चैतिशूद्रताम्।
क्षत्रियज्जातमेवं तु विद्याद्वैश्यात्तथैव च॥

—मनु० १।६५

अर्थ—ब्राह्मण शूद्रता को प्राप्त हो जाता है और शूद्र ब्राह्मणता को प्राप्त हो जाता है। क्षत्रिय से उत्पन्न हुआ भी इसी प्रकार और वैसे ही वैश्य से हुआ पुरुष भी अन्य वर्णों को प्राप्त होता जानना चाहिए।

जन्म से सब शूद्र

जन्मना जायते शूद्रः। संस्काराद् द्विज उच्यते।
वेदाभ्यासाद् भवेद् विप्रो ब्रह्म जानाति ब्राह्मणः॥

—वज्रसूची उपनिषद्

अर्थ—मनुष्यमात्र जन्म से शूद्र है। वह संस्कार द्वारा द्विज कहा जाता है। वेदज्ञान से विप्र और ब्रह्मज्ञान से ब्राह्मण बनता है।

गोत्र क्या वस्तु हैं?

गोत्रः भूरक्षकाः गोरक्षकाश्च।

गोत्र शब्द दो संस्कृत शब्दों—गो+त्र से बना है। 'गो' के दो अर्थ हैं—गाय और पृथ्वी। 'त्र' का अर्थ है त्राण या रक्षा करना। इसलिए गोत्र का शाब्दिक अर्थ हुआ—''गाय और पृथ्वी की रक्षा करनेवाला दल।''

मौलिक और प्राचीनतम आर्य गोत्र ये हैं—

विश्वामित्रो जमदग्निर्भरद्वाजोऽथ गौतमाः।
अत्रिः वसिष्ठः कश्यप इत्येते गोत्रकारकाः॥

आरम्भ में सात ऋषियों ने आर्य दलों (गोत्रों) का सङ्गठन और सञ्चालन किया। उन सात ऋषियों के नाम ये हैं—

१. विश्वामित्र, २. जमदग्नि, ३. भरद्वाज, ४. गौतम, ५ अत्रि, ६. वसिष्ठ और ७. कश्यप। कई विद्वान् आठवाँ अगस्त्य भी बताते हैं।

समयान्तर में ये सात या आठ गोत्र (आर्य दल) बढ़कर चौबीस हो गये, फिर उनचास और फिर सैकड़ों—सहस्त्रों।

चतुर्विंशति गोत्राणि। ऊन पञ्चाशत गोत्र भेदाः। गोत्राणि तु शतानि, अनन्तानि॥

अविवाह्याः सगोत्राः स्युः

एक दल वाले आपस में विवाह न करें।

शास्त्रकार, अवतार, सब क्षत्रिय ही हुए हैं

१. राजा जनक—उपनिषदों के प्रवक्ता, २. राजा रामचन्द्र जी, ३. श्रीकृष्णजी—गीता के प्रवक्ता, ४. वेदव्यास—वेदान्त दर्शन के कर्त्ता, १८ पुराणों के कर्त्ता भी ये कहे जाते हैं। ५. बुद्ध भगवान्, ६. जैनधर्म के २४ तीर्थङ्कर देव सब क्षत्रिय थे। छहों वैदिक शास्त्रों के कर्त्ता क्षत्रिय थे। गौतम, कणाद, कपिल, पतञ्जलि, जैमिनी और व्यास।

इस जन्म के कर्मों के फल केवल अगले जन्म में या इस जन्म में भी

(१) इस जगत् में हम जो अनेक योनियाँ विद्यमान देखते हैं उनसे दो बातें निर्विवाद सिद्ध हो जाती हैं। एक उनकी आयु का भेद और दूसरा उनकी आकृति (जाति) का। घोड़ा अगर अधिक-

से-अधिक २० वर्ष जीवित रह सकता है तो कुत्ता और गधा १२ वर्ष। मक्खी ३ सप्ताह, मनुष्य १०० वर्ष, मगर, कछुवा और व्हेल मछली ४०० से ७०० वर्ष पर्यन्त। कोई २ वृक्ष १००० वर्ष पर्यन्त।

(२) उपरोक्त भेद से यह निर्णित हो जाता है कि कुछ कर्म ऐसे हैं जो केवल आयु के उपरोक्त पैमाने को निश्चित करते हैं। कुछ ऐसे हैं जो उक्त आकृति अर्थात् योनियों को निश्चित करते हैं, यथा—घोड़ा, गधा, बकरा, मेंढ़ा इत्यादि।

"वैदिक विद्वानों की आचार संहिता"

—आचार्य विश्वबन्धु शास्त्री,
ज्वालापुर (हरिद्वार)

विद्या ह वै ब्राह्मणमाजगाम गोपाय मा शेवधिष्टेऽहमस्मि। असूयकायानृजवेऽयताय मा ब्रूया वीर्यवती तथा स्याम्॥

विद्या ब्राह्मण की सम्पत्ति है, विद्या ब्राह्मण से रक्षा की भिक्षा माँगती है, ब्राह्मण की विद्या बलवती तभी हो सकती है, जब तीन प्रकार के व्यक्तियों को प्रदान न की जाये।

१—**असूयकाय**—निन्दा करनेवाले के लिए।
२—**अनृजवे**—कुटिलाचरणवाले के लिए।
३—**अयताय**—आलसी के लिए।

यदि ब्राह्मण असूयक को विद्या प्रदान करेगा तो वह निन्दा द्वारा विद्या को भी विनिन्दित कर देगा यदि ब्राह्मण कुटिल को विद्या प्रदान करेगा तो कुटिल आचरणवाला व्यक्ति विद्या का प्रयोग

कुटिलता को छिपाने में करेगा। यदि आलसी को विद्या प्रदान की जाएगी तो वह कभी भी विद्या के क्षेत्र में नयी खोज नहीं करेगा।

इस प्रकार न तो वह विद्या का प्रकाश ही कर सकता है और न विकास ही।

विद्या को इन दोषों से बचाने के लिए निन्दनीय स्वभाववाले मनुष्यों को विद्या दान ही करना चाहिए।

ब्राह्मण की मृत्यु—ब्राह्मण को संसार में कोई भी नहीं मार सकता। ब्राह्मण तो चार कारणों से मरता है, फिर उसको कोई बचा भी नहीं सकता। वे ये हैं—

अनभ्यासेन वेदानामाचारस्य च वर्जनात्।
आलस्यादन्नदोषाच्च मृत्युर्विप्राञ्जघांसति॥

—मनु० ५।४

वेदों का अभ्यास न करने से, सदाचार के छोड़ने से, आलसी या निराश जीवन बिताने से तथा

दुष्ट अन्न के खाने से मृत्यु ब्राह्मण को मारना चाहती है।

इसीलिए मृत्युञ्जय महर्षि दयानन्द ने आर्य मात्र को मृत्यु के मुख से बचाने के लिये आर्यसमाज का तृतीय नियम लिखा है—''वेद सब सत्य विद्याओं का पुस्तक है। वेद का पढ़ना-पढ़ाना और सुनना-सुनाना सब आर्यों का परमधर्म है। अतः सबको इसका आचरण में लाना चाहिए।

वेद, शास्त्र तालिका एवं आर्ष ग्रन्थों का पठन-पाठन से लाभ

महर्षि स्वामी दयानन्द सरस्वती ने अपने अनुपम ग्रन्थ 'सत्यार्थप्रकाश' तथा 'संस्कार-विधि' में यह निश्चित किया है कि वैदिक ग्रन्थ निम्नोक्त शास्त्रों के पठन-पाठन के लिए एक विद्यार्थी यदि ३१ वर्ष का समय दे तो वह उन शास्त्रों का पूर्ण विद्वान् हो सकता है। वह प्रकार निम्नोक्त है।

घर पर

(१) पाणिनि मुनिकृत वर्णोच्चारण शिक्षा— १ माह

गुरुकुल में

(२) पाणिनि मुनिकृत अष्टाध्यायी— ८ माह

(३) पाणिनि मुनिकृत लिङ्गानुशासन— ६ माह

(४) पाणिनि मुनिकृत पदार्थोक्ति-समास— ८ माह

विभिन्न समय— २ माह

(५) पातञ्जल मुनिकृत महाभाष्य

(६) वेदाङ्ग—शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द, ज्योतिष। अर्थात् व्यास मुनिकृत निघण्टु, निरुक्त। कात्यायनी मुनिकृत कोष, आप्त मुनिकृत वाच्यवाचक सम्बन्ध रूप। पिङ्गलाचार्य कृत पिङ्गल सूत्र और श्लोकादि रचन विद्या। —४ वर्ष

(७) यास्क मुनिकृत काव्यालङ्कार सूत्र। मनुस्मृति, विदुरनीति, वाल्मीकि रामायण के १० सर्ग। —१ वर्ष

(८) सूर्य सिद्धान्त जिसमें बीज, रेखा, पाटी और अङ्कगणित इत्यादि सब सम्मिलित हैं। —१ वर्ष

(९) उपाङ्ग—न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, पूर्वमीमांसा और उत्तर मीमांसा अर्थात् वेदान्त दर्शन। —१ वर्ष

(१०) ११ उपनिषद्—ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, ऐतरेय, तैत्तिरीय, छान्दोग्य, बृहदारण्यक और श्वेताश्वतरोपनिषद्। —२ वर्ष

(११) ऋग्वेद और इसका ब्राह्मण ऐतरेय पूर्ण रीति से। —३ वर्ष

(१२) यजुर्वेद और इसका ब्राह्मण शतपथ पूर्ण रीति से। —२ वर्ष

(१३) सामवेद और इसका साम ब्राह्मण पूर्ण रीति से पदादि गान सहित। —२ वर्ष

(१४) अथर्ववेद और इसका ब्राह्मण गोपथ पूर्ण रीति से। —२ वर्ष

(१५) उपवेद—ऋग्वेद का आयुर्वेद और यजुर्वेद का धनुर्वेद। —३ वर्ष

(१६) सामवेद का गान्धर्ववेद। —३ वर्ष

(१७) अथर्व का अर्थवेद। —६ वर्ष

योग ३१ वर्ष

उपर्युक्त व्याख्या से प्रकट होता है कि यदि ८ वर्ष का एक विद्यार्थी गुरुकुल में प्रविष्ट हो, तो आगामी ३१ वर्ष में उपरोक्त शास्त्रों का विद्वान् होने तक उसकी आयु ३९ या ४० वर्ष की हो चुकेगी। इसका तात्पर्य यह हुआ कि जो व्यक्ति २५ वर्ष की आयु तक ही निरन्तर विद्याभ्यास करे तो वह सामवेद तक विद्या पूर्ण कर लेगा। यदि वह २७ वर्ष की आयु तक पढ़े तो वह अथर्ववेद तक पढ़ लेगा। यदि ३० वर्ष की आयु तक निरन्तर पढ़े तो वह आयुर्वेद और धनुर्वेद पढ़ लेगा। ३३ वर्ष की आयु तक पढ़े तो गान्धर्व वेद पढ़ लेगा। यदि ६ वर्ष और पढ़े तो वह अर्थवेद पढ़ लेगा।

कौन व्यक्ति कहां तक विद्या प्राप्ति में समर्थ है यह उसकी निजी योग्यता पर निर्भर है। इसकी जाँच करके वह विद्याध्ययन में प्रवेश करे तो उसका समय और परिश्रम व्यर्थ न जाय यह सोचकर महर्षि ने उपरोक्त प्रकार स्पष्ट किया है।

महर्षि स्वामी दयानन्दकृत ग्रन्थों का रचनाकाल का ब्यौरा

१. सन्ध्या — ई० सन् १८६३

२. भागवत खण्डन, वैष्णवमत खण्डन — ई० सन् १८६६

३. अद्वैतमत खण्डन — ई० सन् १८७०

४. गर्दभ तापिनी उपनिषद् — ई० सन् १८७३

५. प्रथम संस्करण सत्यार्थप्रकाश — जून, १८७४

६. संशोधित संस्करण सत्यार्थप्रकाश — जुलाई, १८८२

७. सन्ध्योपासन — जुलाई, १८७४

८. वेदान्तिध्वान्त-निवारण — सितम्बर १८७४

९. वेदविरुद्ध मत-खण्डन — नवम्बर, १८७४

१०. शिक्षा पत्री ध्वान्त निवारण — सितम्बर, १८७४

११. आर्याभिविनय — अप्रैल, १८७५

१२. संस्कारविधि — नवम्बर, १८७५

१३. वेदभाष्य (नमूना, बानगी) — १८७४

१४. वेदभाष्य (२ भाग) — मई १८७५

१५. ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका प्रारम्भ २०।८।१८७६ समाप्ति १।१२।१८७६

१६. ऋग्वेद-भाष्य केवल ५६४९ मन्त्रों का — नवम्बर-दिसम्बर १८७७

१७. यजुर्वेद पूर्ण भाष्य — ई० सन् १८८२
[जीवनकाल में केवल ५१ अङ्क प्रकाशित हुए थे]

१८. आर्योद्देश्यरत्नमाला — अगस्त, १८७७

१९. भ्रान्ति निवारण — १८७७

२०. अष्टाध्यायी भाष्य केवल ४ अध्याय — अगस्त १८७८

२१. आत्म-चरित्र — अगस्त १८७९

२२. संस्कृत वाक्य-प्रबोध — मार्च १८७९

२३. व्यवहारभानु — मार्च १८७९

२४. गौतम अहल्या कथा — १८८०

२५. भ्रमोच्छेदन — २४।६।१८८०

२६. अनुभ्रमोच्छेदन मार्च १८८०
२७. गोकरुणानिधि १८८०
२८. ४१ वेदाङ्गप्रकाश १४ भाग
१८७९ से १८८३ तक

टिप्पणी—कहा जाता है कि श्री स्वामीजी के हस्तलिखित २६ ग्रन्थ बिना छपे श्री परोपकारिणी सभा के पास और पड़े हैं। वे भी छपने चाहिएँ। क्या वे पटक रखने को लिखे गये थे?

सब वेद पढ़ें, सुविचार बढ़ें,
बल पाये चढ़ें, नित ऊपर को
अविरुद्ध रहें, निज पन्थ गहें,
परिवार कहें वसुधा भर को
ध्रुव धर्म धरें, पर दुःख हरें,
तन त्याग तरें भवसागर को
दिन फेर पिता, वर दे सविता,
हम आर्य करें जगती भर को।

"वेद मन्त्रों के उपदेश"

व्रतेन दीक्षामाप्नोति दीक्षयाप्नोति दक्षिणाम्।
दक्षिणा श्रद्धामाप्नोति श्रद्धया सत्यमाप्यते॥

—यजु० १९।३०

ब्रह्मचारी व्रत से दीक्षावान् होता है। दीक्षा से दक्षिणावान् होता है, दक्षिणा से श्रद्धावान् होता है और श्रद्धा से सत्य को अर्थात् मोक्ष को प्राप्त होता है।

अग्ने व्रतपते व्रतं चरिष्यामि तच्छकेयं।
तन्मे राध्यताम्। इदमहमनृतात् सत्यमुपैमि॥

—यजु० १।५

हे व्रतपति अग्नि, मैं व्रत करूँगा, उसे मैं पूर्ण कर सकूँ, वह पूर्ण हो। मेरा व्रत यह है कि मैं असत्य को छोड़कर सत्य को प्राप्त होता हूँ।

दृष्ट्वा रूपे व्याकरोत् सत्यानृते प्रजापतिः।
अश्रद्धामनृतेऽदधाच्छ्रद्धां सत्ये प्रजापतिः॥

—यजुः० १८।७७

भगवान् प्रजापति ने देखकर सत्य और असत्य के दो रूप पृथक्-पृथक् किये। प्रभु ने अश्रद्धा को असत्य में और श्रद्धा को सत्य में रखा।

विष्णोः कर्माणि पश्यत यतो व्रतानि पस्पशे। इन्द्रस्य युज्यः सखा॥

—ऋ० १।२२।१९

हे मनुष्यो! तुम उस सर्वव्यापक विष्णु के कर्मों को देखो और उसके अनुसार अपने जीवन को सफल बनाओ। वही तुम्हारा सखा है, अर्थात् मित्र है।

श्रद्धा

श्रद्धयाग्निः समिध्यते श्रद्धया हूयते हविः।
श्रद्धां भगस्य मूर्धनि वचसा वेदयामसि॥ १॥

—ऋ० १०।१५१।१

श्रद्धा से अग्नि प्रदीप्त की जाती है, श्रद्धा से आहुति दी जाती है, श्रद्धा से ही भाग्य का निर्णय होता है, श्रद्धा से ही वचन बोले जाते हैं, श्रद्धा से

यह सब-कुछ होता है।

प्रियं श्रद्धे ददतः प्रियं श्रद्धे दिदासतः।
प्रियं भोजेषु यज्वस्विदं म उदितं कृधि॥ २॥

—ऋ० १०।१५१।२

हे श्रद्धा देवी! जो देता है उसका कल्याण कर, श्रद्धा से देने की इच्छा करनेवाले का प्रिय कर, श्रद्धा से उपभोग और यज्ञ करनेवालों का कल्याण कर। मैं जो प्रार्थना कर रहा हूँ उसे स्वीकार करो जिससे हमारा उत्थान हो।

यथा देवा असुरेषु श्रद्धामुग्रेषु चक्रिरे।
एवं भोजेषु यज्वस्वस्माकमुदितं कृधि॥ ३॥

—ऋ० १०।१५१।३

जिस प्रकार देवों ने भी असुरों अर्थात् अपना जीवन अर्पण करनेवालों में श्रद्धा रखी थी। उसी प्रकार भोग लेनेवाले और यज्ञ करनेवालों में हम सबका उदय करो।

श्रद्धां देवा यजमाना वायुगोपा उपासते।
श्रद्धां हृदय्याकूत्या श्रद्धया विन्दते वसु॥ ४॥

जो दिव्य गुणवाले भक्त लोग हृदय से श्रद्धा तथा भावना पूर्वक प्रतिदिन प्राणायाम (वायुगोपा:) करते हैं वे स्वस्थ रहने के कारण धन-सम्पत्ति प्राप्त करते हैं।

श्रद्धां प्रातर्हवामहे श्रद्धां मध्यन्दिनं परि।
श्रद्धां सूर्यस्य निम्रुचि श्रद्धे श्रद्धापयेह नः॥ ५॥

—ऋ० १०।१५१।५

हम प्रातः, मध्याह्न तथा सायंकाल और प्रतिदिन श्रद्धा देवी का आह्वान करते हैं। मैं सूर्य अस्त होने पश्चात् भी श्रद्धा की अर्चना करता हूँ। इसलिए हे श्रद्धा देवी आप हममें स्थित हो जाओ।

पारिवारिक जीवन

वेद का धर्म पारिवारिक जीवन का बहुत ऊँचा और सुन्दर आदर्श बताता है, जिसको अपनाकर प्रत्येक परिवार सुख-शान्ति का पूर्ण पात्र बन जाता है। वेद का आदेश है—

सहृदयं सांमनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः।
अन्यो अन्यमभि हर्यत वत्सं जातमिवाघ्न्या॥

—अथर्व० ३।३०।१

मैं तुम्हारे हृदयों को और मन को एक तथा द्वेषरहित करता हूँ। तुम एक-दूसरे को ऐसा प्यार करो जैसे गौ नये पैदा हुए बछड़े को प्यार करती है।

अनुव्रतः पितुः पुत्रो मात्रा भवतु संमनाः।
जाया पत्ये मधुमतीं वाचं वदतु शन्तिवाम्॥

—अथर्व० ३।३०।२

पुत्र पिता का आज्ञाकारी हो, माता के साथ एक मनवाला हो। पत्नी पति के लिए मीठी और शान्ति देनेवाली वाणी बोले।

मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन् मा स्वसारमुत स्वसा।
सम्यञ्चः सव्रता भूत्वा वाचं वदत भद्रया॥

—अथर्व० ३।३०।३

भाई भाई से वैर न करे, बहिन बहिन से द्वेष न करे। सब एक-गति और एक-मति होकर चलें

और सब परस्पर मीठे, कल्याणकारी वचन बोलें।

येन देवा न वियन्ति नो च विद्विषते मिथः। तत्कृण्मो ब्रह्म वो गृहे संज्ञानं पुरुषेभ्यः॥

—अथर्व० ३।३०।४

जिस वेद-ज्ञान अथवा परमेश्वर के सत्य ज्ञान से देवता एक-दूसरे से पृथक् नहीं होते और न द्वेष करते हैं, मैं (परमेश्वर) उसी ब्रह्म (वेद) ज्ञान को तुम्हारे घरों में स्थापना करता हूँ जो सबका साँक्षा ज्ञान है।

ज्यायस्वन्तश्चित्तिनो मा वि यौष्ट संराधयन्तः सधुराश्चरन्तः। अन्यो अन्यस्मै वल्गु वदन्त एत सध्रीचीनान् वः संमनस्कृणोमि॥

—अथर्व० ३।३०।५

बड़े बनने की इच्छावालो! दिलवाले (समझ-वाले), ज्ञानी तथा उदार बनो। मिलकर सिद्धि प्राप्त करो। एक-दूसरे के लिए सुन्दर वचन बोलते हुए आओ, मैं तुम्हें परस्पर का सहायक और एक दिलवाला बनाता हूँ।

समानी प्रपा सह वोन्नभागः समाने योक्त्रे सह वो युनज्मि। सम्यञ्चोऽग्निं सपर्यतारा नाभिमिवाभितः॥

—अथर्व० ३।३०।६

तुम्हारी प्याऊ (पानी पीने का स्थान) एक हो, तुम्हारा खाना एक हो। मैं तुम्हें एक जुए में जुड़ने की आज्ञा देता हूँ। जैसे रथ की नाभि में अरे लगे होते हैं, वैसे तुम सब मिलकर भगवान् की पूजा करो अर्थात् एक-साथ बैठकर अग्नि जलाओ।

सध्रीचीनान् वः संमनसस्कृणोम्येकश्नुष्टीन्त्संवननेन सर्वान्। देवाइवामृतं रक्षमाणाः सायंप्रातः सौमनसो वो अस्तु॥

—अथर्व० ३।३०।७

मैं तुम सबको एक-दूसरे का साथी, एक मनवाला और एक-सा भोजनवाला बनाता हूँ। देवताओं की भाँति अमर जीवन की रक्षा के लिए तुम सब सायं-प्रातः परस्पर के प्रेम और शुभ विचारों को बढ़ाओ।

ब्रह्मचर्य सूक्त

ब्रह्मचारीष्णंश्चरति रोदसी उभे। तस्मिन् देवाः संमनसो भवन्ति। स दाधार पृथिवीं दिवं च। स आचार्यं तपसा पिपर्त्ति॥ १॥

अर्थ—ब्रह्मचारी ब्रह्म को चाहता हुआ, बार-बार खोजता हुआ दोनों लोकों में, द्यावापृथिवी में विचरता है, अनुकूल आचरण करता है, ब्रह्मचर्य करता है। उसमें सब देवता अनुकूल होकर रहते हैं। वह पृथिवी और द्यौ को धारण करता है। वह तपस्या द्वारा आचार्य को तृप्त करता है॥ १॥

ब्रह्मचारिणं पितरो देवजनाः पृथग्देवा अनुसंयन्ति सर्वे। गन्धर्वा एनमन्वायन्, त्रयस्त्रिंशत् त्रिशतः षट्सहस्राः। सर्वान्त्स देवांस्तपसा पिपर्त्ति॥ २॥

अर्थ—रक्षा करनेवाले 'पितर' देवजन पृथक् सब 'देव' लोग ब्रह्मचारी के पीछे चलते हैं। गौ [पृथ्वी, धन, वाणी] को धारण करनेवाले देव

इसके पीछे चलते हैं। तीन, तीस, तीन सौ, छह हज़ार ये देव हैं इन सब देवों को ब्रह्मचारी अपने तप से संतृप्त करता है॥ २॥

आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं, कृणुते गर्भमन्तः। तं रात्रीस्तिस्त्र उदरे बिभर्त्ति, तं जातं द्रष्टुमभिसंयन्ति देवाः॥ ३॥

अर्थ—आचार्य उपनयन करता हुआ ब्रह्मचारी को अपने गर्भ में धारण करता है। उसे तीन रात्रि तक (तब तक ज्ञान, कर्म, उपासना विषयक) तीन प्रकार की अन्धकारों की अवस्था से गुजरकर वसु, रुद्र क्रम से आदित्य का उदय नहीं हो जाता तब तक पेट में, अपने अन्दर, अपने कुल में धारण करता है। उस (विद्या से द्विजरूपेण) उत्पन्न हुए को देखने के लिए, दर्शन करने के लिए देवता आते हैं, अभिमुख हो इकट्ठे होते हैं॥ ३॥

इयं समित् पृथिवी द्यौर्द्वितीया उतान्तरिक्षं समिधा पृणाति। ब्रह्मचारी समिधा मेखलया श्रमेण लोकांस्तपसा पिपर्त्ति॥ ४॥

अर्थ—यह पहली समिधा पृथिवी है, द्युलोक दूसरी है और अन्तरिक्ष को भी तीसरी समिधा से पूरित करता है, यजन करता है। ब्रह्मचारी ज्ञानदीप्ति से, मेखला से, श्रम से, तप से सब लोकों, सब संसारों, मनुष्यों को पालित-पूरित करता है॥ ४॥

पूर्वो जातो ब्रह्मणो ब्रह्मचारी घर्मं वसानस्तपसोदतिष्ठत्। तस्माज्जातं ब्राह्मणं ब्रह्म ज्येष्ठं देवाश्च सर्वे अमृतेन साकम्॥ ५॥

अर्थ—ब्रह्म से पहला होकर या पहले उत्पन्न हुआ ब्रह्मचारी तेज को धारण किये हुए तप से उठता है। उससे ब्रह्म-सम्बन्धी उत्कृष्ट ज्ञान उत्पन्न होता है और सब देव अमृत से युक्त हो जाते हैं॥ ५॥

ब्रह्मचार्येति समिधा समिद्धः कार्ष्णं वसानः दीक्षितो दीर्घश्मश्रुः। स सद्य एति पूर्वस्मादुत्तरं समुद्रं लोकान् संगृभ्य मुहुराचरिक्रत्॥ ६॥

अर्थ—समित् होम से ज्ञानदीप्त हुआ काला मृगचर्म पहिने हुए बढ़ी हुई दाढ़ी-मूँछवाला व्रत

ग्रहण किये हुए ब्रह्मचारी आता है। वह ब्रह्मचारी लोकसंग्रह करके पुनः पुनः चारों तरफ से कर्म करता हुआ शीघ्र ही पहले ज्ञानसमुद्र से दूसरे उत्कृष्टतर ज्ञानसमुद्र को पहुँचता है॥ ६॥

ब्रह्मचारी जनयन् ब्रह्मापो लोकं प्रजापतिं परमेष्ठिनं विराजम्। गर्भो भूत्वाऽमृतस्य योनाविन्द्रो ह भूत्वासुरांस्ततर्ह॥ ७॥

अर्थ—ब्रह्मचारी ज्ञान, कर्म और लोक को प्रकट करता हुआ, प्रजापति को प्रकट करता हुआ और अपेक्षया परम में स्थिर होनेवाली विराट् अवस्था को प्रकट करता हुआ अन्त में अमृत की योनि में गर्भभूत रहकर अब इन्द्र बनकर निश्चय से असुरों का नाश करता है॥ ७॥

आचार्यस्ततक्ष नभसी उभे इमे उर्वी गम्भीरे पृथिवीं दिवं च। ते रक्षति तपसा ब्रह्मचारी तस्मिन् देवाः संमनसो भवन्ति॥ ८॥

अर्थ—आचार्य इन दोनों लोकों को अर्थात्

बहुत विस्तृत और बहुत गहरे पृथिवी और द्युलोक को घड़ देता है। उन (घड़े हुए द्यावापृथिवी) को ब्रह्मचारी तपस्या द्वारा रक्षा करता है। उस ब्रह्मचारी में सब देवता एकमन, अनुकूल होते हैं॥ ८॥

इमां भूमिं पृथिवीं ब्रह्मचारी भिक्षामा जभार प्रथमो दिवं च। ते कृत्वा समिधावुपास्ते तयोरार्पिता भुवनानि विश्वा॥ ९॥

अर्थ—प्रथम ब्रह्मचारी इस विस्तृत भूमि और द्यौ को भिक्षा में ले आया है। अब वह उन्हें (आचार्याग्नि में) समिधा बनाकर उपासना करता है। उन्हीं दो (लोकों) में सब भुवन समाये हुए हैं॥ ९॥

अर्वागन्यः परो अन्यो दिवस्पृष्ठाद् गुहा निधी निहितौ ब्राह्मणस्य। तौ रक्षति तपसा ब्रह्मचारी तत् केवलं कृणुते ब्रह्म विद्वान्॥ १०॥

अर्थ—एक उरे है और एक द्युलोक के पृष्ठ से परे है। ये दो ब्रह्मज्ञानी के खजाने गुहा में छिपे

रखे हैं। उन (खजानों) की ब्रह्मचारी तप द्वारा रक्षा करता है और ब्रह्म का साक्षात्कार करनेवाला उस (ब्रह्माग्निरूप खजाने) को केवल, पूर्ण करता है, उपयोग करता है॥ १०॥

अर्वागन्य इतो अन्यः पृथिव्याः अग्नी समेतो नभसी अन्तरेमे। तयोः श्रयन्ते रश्मयोऽधि दृढाः ताना तिष्ठति तपसा ब्रह्मचारी॥ ११॥

अर्थ—एक इधर की और एक पृथिवी से परे की ये दो अग्नियाँ इन दोनों लोकों (द्यौ और पृथिवी) के बीच में आती हैं, इकट्ठी होती हैं। उनकी जबरदस्त किरणें विरोधी रूप में मिलती हैं, परस्पर टकराती हैं। उन किरणों पर ब्रह्मचारी तप द्वारा आस्थित होता है, ठहरता है॥ ११॥

अभिक्रन्दन् स्तनयन्नरुणः शितिङ्गो बृहच्छेपोऽनु भूमौ जभार। ब्रह्मचारी सिञ्चति सानौ रेतः पृथिव्यां तेन जीवन्ति प्रदिशश्चतस्रः॥ १२॥

अर्थ—गरजता हुआ, नाद करता हुआ, कड़कता हुआ, ध्वनि करता हुआ, आरोचमान और श्यामल आधिदैविक, आधिभौतिक समष्टि तथा व्यष्टि-जगत्रूपी ब्रह्मचारी भूमि, पार्थिव प्राणी व स्थूल शरीर पर बहुत उत्पादक शक्तिवाला, बहुत प्रभावशाली, बहुत आभ्यन्तर शक्तिवाला होकर कृपा करता है तो इस पृथिवी पर पहाड़ों, उन्नत पुरुषों, वे उन्नत प्राण केन्द्रों में जल, ज्ञान व वीर्य की वृष्टि करता है। उस वृष्टि से चारों दिशाएँ, सब प्राणी, शरीर के सारे अणु जीवन प्राप्त करते हैं॥ १२॥

अग्नौ सूर्ये चन्द्रमसि मातरिश्वन् ब्रह्मचार्यप्सु समिधमा दधाति। तासामर्चींषि पृथगभ्रे चरन्ति तासामाज्यं पुरुषो वर्षमापः॥ १३॥

अर्थ—ब्रह्मचारी अग्नि में, सूर्य में, चन्द्रमा में, वायु में और जल में समिधा को रखता है। उन समिधाओं की ज्वालाएँ या किरणें जुदा-जुदा

अन्तरिक्ष में चलती हैं। उन समिधाओं का घी पुरुष, अन्तरात्मा होता है और वर्षा व्यापक जल व व्यापक कर्म की होती है॥ १३॥

आचार्यो मृत्युर्वरुणः सोम ओषधयः पयः। जीमूता आसन् सत्वानः तैरिदं स्वराभृतम्॥ १४॥

अर्थ—आचार्य मृत्यु है, वरुण है, सोम है, ओषधियाँ है, दूध है। आचार्य के ये (पाँचों) रूप पाँच बल जीवन बरसानेवाले मेघ होते हैं। उन्हीं सत्त्वों से (ब्रह्मचारियों के लिए) इस सुख, अमृतत्व व तेज का आहरण किया है, (इनकी वर्षा) लाया है॥ १४॥

अमा घृतं कृणुते केवलमाचार्यो भूत्वा वरुणो यद्यदैच्छत् प्रजापतौ। तद् ब्रह्मचारी प्रायच्छत् स्वान् मित्रो अध्यात्मनः॥ १५॥

अर्थ—आचार्य (ब्रह्मचारी के) साथ होकर या एक घर (गुरुकुल) में होकर ही, शुद्ध तेजःप्रवाह को, ज्ञान प्रवाह को करता है। वह वरुण होकर प्रजापति के काम के लिए जो-जो इच्छा करता है

उसे मित्र हुआ ब्रह्मचारी अपनी आत्मा के अन्तर से, अपनी (आत्मा के अन्दर से अपनी) आत्मशक्ति के बल से दे देता है॥ १५॥

आचार्यो ब्रह्मचारी प्रजापतिः। प्रजापति-विराजति विराडिन्द्रोऽभवद् वशी॥ १६॥

अर्थ—आचार्य ब्रह्मचारी होता है। वह ब्रह्मचारी प्रजापति बन जाता है। फिर प्रजापति विशेषतया राजमान, दीप्यमान होता है अर्थात् विराट् बनता है और वह विराट् होकर इन्द्र बन जाता है॥ १६॥

ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्रं वि रक्षति। आचार्यो ब्रह्मचर्येण ब्रह्मचारिणमिच्छते॥ १७॥

अर्थ—राजा ब्रह्मचर्य के तप द्वारा राष्ट्र की ठीक-ठीक रक्षा करता है और ब्रह्मचर्य से ही ब्रह्मचारी को चाहता है॥ १७॥

ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम्। अनड्वान् ब्रह्मचर्येण अश्वो घासं जिगीर्षति॥ १८॥

अर्थ—कन्या ब्रह्मचर्य से ही जवान पति को प्राप्त करती है। 'बैल', 'घोड़ा' ब्रह्मचर्य से ही घास खाना चाहता है, भोक्तृत्व प्राप्त करता है॥ १८॥

ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमपाघ्नत। इन्द्रो ह ब्रह्मचर्येण देवेभ्यः स्वराभरत्॥ १९॥

अर्थ—देव ब्रह्मचर्य के तपोबल से मौत को मार डालते हैं। देवराज परमेश्वर, आत्मा व इन्द्र ब्रह्मचारी निश्चय से अपने ब्रह्मचर्य के द्वारा ही देवों के लिए सुख व तेज को लाता है, प्राप्त करता है॥ १९॥

ओषधयो भूतभव्यम्, अहोरात्रे वनस्पतिः। संवत्सरः सहर्तुभिः ते जाता ब्रह्मचारिणः॥ २०॥

अर्थ—औषधियाँ जो हो चुका और जो होगा दिन और रात वनस्पतियाँ और ऋतुओं सहित वर्ष ये सब ब्रह्मचारी बने हुए हैं (या ब्रह्मचारी से जन्मे हैं)॥ २०॥

पार्थिवा दिव्याः पशवः आरण्या ग्राम्याश्च ये। अपक्षाः पक्षिणाश्च ये ते जाता ब्रह्मचारिणः॥ २१॥

अर्थ—पृथिवी पर होनेवाले या आकाश में होनेवाले जो जङ्गली हैं और जो ग्राम में होनेवाले जो पङ्खवाले नहीं हैं या पङ्खवाले हैं ऐसे सब पशु-पक्षी ब्रह्मचारी बने हुए हैं (या ब्रह्मचारी से जन्मे हैं) ॥ २१ ॥

पृथक् सर्वे प्राजापत्याः प्राणानात्मसु बिभ्रति। तान्त्सर्वान् ब्रह्म रक्षति ब्रह्मचारिण्यांभृतम् ॥ २२ ॥

अर्थ—सब प्रजापति के नियम से उत्पन्न हुए स्थूल भौतिक प्राणी अपने में जुदा-जुदा प्राणों को धारण करते हैं। उन सब प्राणियों को ब्रह्मचारी में संग्रह किया गया ब्रह्म, वेद, ज्ञान ही रक्षा करता है ॥ २२ ॥

देवानामेतत् परिषूतं अनभ्यारूढं चरति रोचमानम्। तस्माज्जातं ब्राह्मणं ब्रह्म ज्येष्ठं देवाश्च सर्वे अमृतेन साकम् ॥ २३ ॥

अर्थ—यह ब्रह्मचर्य देवों का निचोड़, सार किसी से भी न दबाया जाता हुआ चमकता हुआ

चल रहा है, संसार में कार्य कर रहा है। उससे ब्रह्म-सम्बन्धी उत्कृष्ट ज्ञान उत्पन्न होता है और सारे देव अमृत से युक्त हो जाते हैं ॥ २३ ॥

ब्रह्मचारी ब्रह्म भ्राजद् बिभर्ति तस्मिन् देवा अधि विश्वे समोताः। प्राणापानौ जनयन्नाद् व्यानं वाचं मनो हृदयं ब्रह्ममेधाम् ॥ २४ ॥

अर्थ—ब्रह्मचारी तेजस्वी ज्ञान को, दीप्यमान ब्रह्म को धारण करता है। उसमें सब देव सम्यक् प्रकार ओतप्रोत होते हैं। इसलिए प्राण और अपान को और व्यान को वाणी को मन को हृदय को ज्ञान को बुद्धि को उत्पन्न करता हुआ, इनकी शक्तियों को प्रकट व विकसित करता है ॥ २४ ॥

चक्षुः श्रोत्रं यशो अस्मासु धेहि। अन्नं रेतो रोहितमुदरम् ॥ २५ ॥

अर्थ—देखने-सुनने आदि की पूर्ण शक्ति, पूर्ण विकसित ज्ञानशक्ति यश तथा भोग्य वस्तु वीर्य, रुधिर, उदर (पेट), नाभिस्थान ये सब हममें धारण

कराओ (इस प्रकार की पुकार उठती है)॥ २५॥

तानि कल्पद् ब्रह्मचारी सलिलस्य पृष्ठे तपोऽतिष्ठत् तप्यमानः समुद्रे। स स्नातो बभ्रुः पिङ्गलः पृथिव्यां बहु रोचते॥ २६॥

अर्थ—तो इन चक्षु श्रोत्र आदि को बनाता हुआ, सामर्थ्ययुक्त करता हुआ ब्रह्मचारी जल के ऊपर, व्यक्त होनेवाले ज्ञान के ऊपर तप करता है, तपस्यापूर्वक ठहरता है, ज्ञान समुद्र में (स्नान करने को) तप करता हुआ वह स्नातक हुआ, ज्ञान में निष्णात हुआ, ज्ञान समुद्र में स्नान किया हुआ धारण पोषण करनेवाला तेजस्वी, बलवान् इस विस्तृत भूमि पर बहुत शोभायमान होता है, चमकता है॥ २६॥

मेरी शक्ति का कुछ मत पूछो, मैंने सोम पी लिया है!

नीचे ऋग्वेद १०।११९ सूक्त दिया जा रहा है। इसमें प्रभु-भक्ति के मत वाले एक उपासक की मनोवृत्ति और उसके हृदय में उठनेवाली उत्साह-उमंगों का चित्रण किया गया है। प्रभु-भक्ति को सोम पान का नाम दिया गया है। ऐसे सोम-पान से मनुष्य के हौसले और उत्साह कहाँ तक पहुँचते हैं यह दिखाना इस सूक्त का विषय है। नीचे शब्दार्थ दिया जा रहा है। उसे पढ़िये, मनन कीजिये और अपने भीतर भी वैसी ही प्रभु-रस की मस्ती भरिये।

इति वा इति मे मनो गामश्वं सनुयामिति।
कुवित् सोमस्यापामिति॥ १॥

अर्थ—(मे) मेरे (मनः) मन में तो (इति वा इति) यह आता है कि (गाम्) अपनी गौओं और (अश्वम्) घोड़ों को (सनुयाम्) जरूरतमन्दों को दे डालूँ। (इति) क्योंकि मैंने (कुवित्) बहुत बार

(सोमस्य) सोम का (अपाम्) पान किया है।

यहाँ सोम का अर्थ लोक-प्रसिद्ध एक बूटी नहीं है। यहाँ सोम का अर्थ अपने आनन्द-रस से भक्त को तृप्त कर देनेवाले सच्चिदानन्द भगवान् हैं, जिनके विषय में स्वयं वेद में कहा गया है कि **"रसेन तृप्तो न कुतश्चनोनः"** (अथर्व० १०।८।४४) अर्थात् वह भगवान् आनन्द-रस से पूर्ण हैं, उनमें कहीं से भी कोई कमी नहीं है। वेद में सब जगह सोम का अर्थ औषधि-सोम नहीं करना चाहिए। इस विषय में स्वयं वेद ने कहा है—

सोमं मन्यते पपिवान् यत्संपिबन्त्योषधिम्।
सोमं य ब्रह्माणो विदुर्न तस्याश्नाति पार्थिवः॥

अर्थात् "कोई पिसी हुई सोम औषधि को ही पीकर न समझ ले कि सोम पी लिया, जिस सोम का ब्राह्मण लोग पान करते हैं उसे दुनिया के विषय-भोगों में फँसा हुआ आदमी नहीं पी सकता।" वह सोम कौन-सा है जिसे ब्राह्मण पीते

हैं? सन्ध्या में कहा है "उदीची दिक् सोमोऽधिपतिः स्वजो रक्षिता" अर्थात् "वह सोम सब की रक्षा करनेवाला भगवान् है जोकि 'स्वजः'—भक्त के अपने हृदय में प्रकट होता है।" तब सोम-पान का अभिप्राय हुआ 'प्रभु के भक्त का भक्ति-रस में गोते लगाना।' भक्ति-रस में गोते लगानेवाले प्रभु-भक्तों की मानसिक अवस्था कैसी हो जाती है, इसीका चित्रण इस और अगले मन्त्रों में किया गया है।

प्र वाता इव दोधत उन्मा पीता अयंसत।
कुवित् सोमस्यापामिति॥ २॥

अर्थ—(दोधतः) गति देनेवाली (वाताः) वायु (इव) जैसे वृक्षों को (उत्) उछाल-उछाल मारती है वैसे ही (मा) मुझे (पीताः) पिए हुए ये भक्ति-रस (प्र) खूब (उद्-अयंसत) मस्ती में उछाल रहे हैं। (कुवित्०) क्योंकि मैंने बहुत बार सोम पिया है।

उन्मा पीता अयंसत रथमश्वा इवाशवः।
कुवित् सोमस्यापामिति॥ ३॥

अर्थ—(इव) जैसे (आशवः) तीव्रगामी (अश्वाः) घोड़े (रथं) रथ को (उत्) उड़ाकर ले जाते हैं वैसे ही (पीताः) पिये हुए ये भक्ति-रस (मा) मुझको (उद्-अयंसत) मस्ती में उड़ाये लिये जा रहे हैं, (कुवित्०) क्योंकि मैंने बहुत बार सोम पिया है।

उप मा मतिरस्थित वाश्रा पुत्रमिव प्रियम्।
कुवित् सोमस्यापामिति ॥ ४ ॥

अर्थ—(मतिः) मनन-शक्ति (मा) मेरे (उप) पास (अस्थित) आ गई है (इव) जैसे (वाश्रा) रंभाती हुई गौवें (प्रियम्) अपने प्यारे (पुत्रम्) बछड़ों के पास आ जाती हैं। (कुवित्०) क्योंकि मैंने बहुत बार सोम पिया है।

अहं तष्टेव बन्धुरं पर्यचामि हृदा मतिम्।
कुवित् सोमस्यापामिति ॥ ५ ॥

अर्थ—(इव) जैसे (तष्टा) कुशल बढ़ई छील-छीलकर (बन्धुरं) सुन्दर पदार्थ बनाता है

वैसे ही (अहं) मैं (हृदा) दिल से (मतिं) अपनी बुद्धि को, उससे बुराइयों को छील-छीलकर (पर्यचामि) सुन्दर बनाने के लिये प्रयत्न करता हूँ (कुवित्०) क्योंकि मैंने बहुत बार सोम का पान किया है।

नहि मे अक्षिपच्चनाऽच्छान्त्सुः पञ्च कृष्टयः।
कुवित् सोमस्यापामिति ॥ ६ ॥

अर्थ—(पञ्च कृष्टयः) सब प्रकार के लोग (मे) मेरे (अक्षिपत्-चन) दृष्टि-प्रसार को भी (नहि) नहीं (अच्छान्त्सुः) रोक सकते—मेरी भौतिक और मानसिक दर्शन-शक्ति की गति को नहीं रोक सकते, (कुवित्०) क्योंकि मैंने बहुत बार सोम पिया है।

नहि मे रोदसी उभे अन्यं पक्षं चन प्रति।
कुवित् सोमस्यापामिति ॥ ७ ॥

अर्थ—(रोदसी) द्युलोक और पृथिवी-लोक (उभे) दोनों (मे) मेरे (अन्यं) एक (पक्षं चन)

हिस्से के भी (प्रति) बराबर (नहीं) हैं, (कुवित्०) क्योंकि मैंने बहुत बार सोम पिया है। प्रभु-रस का पान करने से मुझमें इतना बल और उत्साह आ गया है कि मैं द्युलोक और पृथिवी-लोक को भी अपनी शक्ति के सामने तुच्छ समझता हूँ।

अभि द्यां महिना भुवमभीमां पृथिवीं महीन्।
कुवित् सोमस्यापामिति ॥ ८ ॥

अर्थ—(महिना) अपनी महिमा से मैं (द्यां) द्युलोक को भी (अभिभुवम्) परास्त कर दूँ और (महीं) बड़ी भारी (इमां) इस (पृथिवीं) पृथिवी को भी (अभि) परास्त कर दूँ (कुवित्०) क्योंकि मैंने बहुत बार सोम पिया है।

हन्ताहं पृथिवीमिमां निदधानीह वेह वा।
कुवित् सोमस्यापामिति ॥ ९ ॥

अर्थ—(अहम्) मैं (हन्त) यदि चाहूँ तो (इमां) इस (पृथिवीं) पृथिवी को उठाकर (इह) इधर (निदधानि) रख दूँ (इह वा) चाहूँ तो इधर

रख दूँ (कुवित्०) क्योंकि मैंने बहुत बार सोम पिया है।

ओषमित् पृथिवीमहं जङ्घनानीह वेह वा।
कुवित् सोमस्यापामिति ॥ १० ॥

अर्थ—(अहं) मैं चाहूँ तो (पृथिवीं) इस बड़े भारी (ओषम्) गरमी के पुञ्ज सूर्य को (इह) इधर (जङ्घनानि) उठा कर रख दूँ (इह वा) चाहूँ तो इधर रख दूँ (कुवित्०) क्योंकि मैंने बहुत बार सोम पिया है।

दिवि मे अन्यः पक्षोऽधो अन्यमचीकृषम्।
कुवित् सोमस्यापामिति ॥ ११ ॥

अर्थ—(मे) मेरी (अन्यः पक्षः) शक्ति का एक हिस्सा (दिवि) द्युलोक तक पहुँचता है और (अन्यं) अपनी शक्ति के एक हिस्से को मैंने (अधः) नीचे पृथिवी तक (अचीकृषम्) पहुँचा रखा है अर्थात् मेरी असीम शक्ति है (कुवित्०) क्योंकि मैंने बहुत बार सोम पिया है।

अहमस्मि महामहोऽभिनभ्यमुदीषितः।
कुवित् सोमस्यापामिति ॥ १२ ॥

अर्थ—(अहं) मैं (महामहः) महान् महिमा वाला (अस्मि) हूँ, अपनी शक्ति से (नभ्यम्) आकाश (अभि) तक (उदीषितः) उठा हुआ हूँ (कुवित्०) क्योंकि मैंने सोम पिया है।

अर्थ—(गृहः) अच्छे गुणों को ग्रहण करनेवाला मैं (अरंकृतः) सुन्दर होकर (यामि) चलता हूँ (देवेभ्यः) देव-पुरुषों के लिए (हव्यवाहनः) मैं चाहने योग्य हव्य पदार्थ देनेवाला हूँ (कुवित्०) क्योंकि मैंने बहुत बार सोम का पान किया है।

हम सौ वर्ष तक फलें-फूलें

अथर्व० १९।६७ सूक्त छोटे-छोटे आठ मन्त्रों का सूक्त है। इसमें भगवान् से प्रार्थना की गई है कि हम पर उसकी ऐसी कृपा हो कि हम सौ साल तक कर्मण्य बनकर जीते रहें, सौ साल तक हमारी देखने, सुनने और समझने आदि की शक्तियाँ पूर्ण-रूप में बनी रहें, सौ वर्ष की आयु तक हमारा जीवन सब प्रकार से पुष्ट बना रहे। इस प्रार्थना द्वारा वेद ने जीवन का आदर्श निश्चित कर दिया है कि हर किसीको सौ साल तक तो कम-से-कम जीना ही चाहिए। नीचे मन्त्रों का शब्दार्थ दिया जा रहा है। पाठक इन्हें पढ़ें और स्वयं भी सौ वर्ष तक जीने का सङ्कल्प करें।

पश्येम शरदः शतम् ॥ १ ॥

अर्थ—हम (शतम्) सौ (शरदः) शरद् ऋतुओं तक अर्थात् सौ वर्षों तक (पश्येम) देखते रहें अर्थात् हमारी चक्षु शक्ति ठीक बनी रहे।

जीवेम शरदः शतम्॥ २॥

अर्थ—हम (शतम्) सौ (शरदः) शरद् ऋतुओं तक अर्थात् सौ वर्षों तक (जीवेम) जीवित रहें अर्थात् कर्मण्य बने रहें।

बुध्येम शरदः शतम्॥ ३॥

अर्थ—हम (शतम् शरदः) सौ शरद् ऋतुओं अर्थात् सौ वर्षों तक (बुध्येम) ज्ञानवान् बने रहें।

रोहेम शरदः शतम्॥ ४॥

अर्थ—हम (शतम् शरदः) सौ शरद् ऋतुओं अर्थात् सौ वर्षों तक (रोहेम वृद्धि प्राप्त करें, फलें-फूलें।

पूषेम शरदः शतम्॥ ५॥

अर्थ—हम (शतम् शरदः) सौ वर्षों तक (पूषेम) पुष्टि प्राप्त करते रहें।

भवेम शरदः शतम्॥ ६॥

अर्थ—हम (शरदः) सौ वर्षों तक (भवेम) बने रहें।

भूयेम शरदः शतम्॥ ७॥

अर्थ—हम (शतम् शरदः) सौ वर्षों तक (भूयेम) शुद्ध होकर रहें।

भूयसीः शरदः शतात्॥ ८॥

अर्थ—हम (शतात्) सौ वर्षों से भी (भूयसीः) अधिक (शरदः) शरद् ऋतुओं अर्थात् वर्षों तक ऊपर कहे गये सब मङ्गल प्राप्त करते रहें।

मनुस्मृति का अनुसरण करते हुए ऐतरेय ब्राह्मण ने भी इन्द्र और रोहित का उदाहरण देकर बतलाया है—

चलते रहो आगे बढ़ो

नाना श्रान्ताय श्रीरस्ति इति रोहित शुश्रुम। पापो नृषद्वरो जनः इन्द्र इच्चरतः सखा। चरैवेति चरैवेति॥

—ऐतरेय ब्रा० ७।१५।१

इन्द्र अपने पुत्र रोहित से कहते हैं—

हम सुनते आ रहे हैं कि जो परिश्रम करके थक कर चूर नहीं हो जाता, तब तक व्यक्ति को कभी

धन और यश प्राप्त नहीं होता। प्रमादी व्यक्ति को पाप मार डालता है। इन्द्र उसी के सहायक होते हैं जो जीवन में कर्म करता है। इसलिए तुम चलते रहो चलते रहो।

पुष्पिण्यौ चरतो जङ्घे भूष्णुरात्मा फलेग्रहिः।
शेरेऽस्य सर्वे पाप्मानः श्रमेण प्रपथे हथाः॥
चरैवेति चरैवेति॥ —ऐतरेय ७।१५।२

पुरुषार्थ करनेवाले की जंघाएँ पुष्ट होती है उसका आत्मा सामर्थ्ययुक्त फल पानेवाला होता है। परिश्रम करनेवालों की मार्ग सब बाधाएँ दूर हो जाती हैं, इसलिए परिश्रम करो परिश्रम करो।

आस्ते भग आसीनस्योर्ध्वस्तिष्ठति तिष्ठतः।
शेते निपद्यमानस्य चराति चरतो भगः॥
चरैवेति चरैवेति॥ —ऐतरेय ७।१५।३

भाग्य क्या है? जो बैठा रहता है, उसका भाग्य भी बैठ जाता है, जो उठकर खड़ा होता है, उसका भाग्य भी उठ खड़ा होता है। जो सोया रहता है

उसका भाग्य भी सो जाता है, जो चलता रहता है उसका भाग्य भी आगे बढ़ जाता है, इसलिए चलते रहो-चलते रहो।

कलिः शयानो भवति सञ्जिहानस्तु द्वापरः।
उत्तिष्ठंस्त्रेता भवति कृतं संवर्धते चरन्॥
चरैवेति चरैवेति। —ऐतरेय ७।१५।४

जो व्यक्ति सोया रहता है उसका नाम कलयुग है जो निद्रा को छोड़कर जग जाता है उसको द्वापर कहते हैं, उठ खड़ा होना ही त्रेता है और कर्म करना ही आगे बढ़ना सत्ययुग है, इसलिए आगे बढ़ते रहो-बढ़ते रहो।

चरन् वै मधु विन्दति चरन् स्वादुमुदुम्बरम्।
सूर्यस्य पश्य श्रेमाणं यो न तन्द्रयते चरन्॥
चरैवेति चरैवेति॥ —ऐतरेय ७।१५।५

चलनेवाला ही मधु पाता है, चलनेवाला ही मीठा गूलर का फल चखता है। सूर्य को देखो, कभी रुकता नहीं है इसलिए चलते रहो-चलते रहो।

आत्मपावनं सूक्तम्

ओ३म्। पुनन्तु मा पितरः सोम्यासः पुनन्तु मा पितामहाः पुनन्तु प्रपितामहाः। पवित्रेण शतायुषा। पुनन्तु मा पितामहाः पुनन्तु प्रपितामहाः। पवित्रेण शतायुषा विश्वमायुर्व्यश्नवै ॥ १ ॥

—यजुर्वेद अ० १९। मं० ३७

अर्थ—अत्यन्त शान्त स्वभाववाले पितृजन मुझे पवित्र करें। उनका शान्त स्वभाव मुझे भी पवित्र बनाए। पितामह और प्रपितामह (दादा और परदादा) भी मुझे पवित्र करके मेरे जीवन को पाप-शून्य बनाएँ। ये सब पितरगण मुझे सौ वर्ष का दीर्घ जीवन देनेवाले ज्ञान से पवित्र करें। सौ वर्ष का आयुष्य देनेवाले पवित्र ज्ञान से पितामह और प्रपितामह मुझे पवित्र करें जिससे मैं पूर्णायु प्राप्त कर सकूँ। मेरा शरीर, मन और बुद्धि—सभी नीरोग और स्वस्थ हों। मेरा जीवन पवित्र हो और मैं शतायु

बनूँ ॥ १ ॥

अग्नऽआयूꣳषि पवसऽआ सुवोर्जमिषं च नः।
आरे बाधस्व दुच्छुनाम् ॥ २ ॥

—यजुः० १९। ३८

अर्थ—हे प्रकाशस्वरूप परमात्मन्! आप हमारे जीवनों को शुद्ध, पवित्र तथा निर्दोष बनाइए। आप हमसे दीर्घायु प्रदान करनेवाले कर्मों को ही कराइए। इस दीर्घ और पवित्र जीवन के लिए आप हमें बल तथा प्राणशक्ति देनेवाले दूध-दही आदि तथा रसीले फलादि और जो-चावल आदि सात्त्विक अन्न प्राप्त कराइए तथा कुत्ते के समान दुष्ट वृत्तियोंवाले (चापलूस, वान्ताशी=कै करके चाट लेनेवाले, अपनी प्रतिज्ञाओं का पालन न करनेवाले, स्वजाति-द्रोही) मनुष्यों को हमसे दूर ही रखिए ॥ २ ॥

पुनन्तु मा देवजनाः पुनन्तु मनसा धियः।
पुनन्तु विश्वा भूतानि जातवेदः पुनीहि मा ॥ ३ ॥

—यजुः० अ० १९। ३९

अर्थ—हे प्रभो! दिव्य वृत्तिवाले विद्वान् लोग मुझे पवित्र करें। वे अपनी मानसिक शक्ति से हमारी बुद्धियों को पवित्र करें। विचारपूर्वक किये जानेवाले कर्म हमारे जीवनों को पवित्र करें। अकर्मण्यता अपवित्रता का कारण है। अविचारपूर्वक किये गये कर्म भी हमारे दुःख का कारण बनते हैं। आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथिवी—ये सब भूत हमारे जीवन को पवित्र और नीरोग बनाएँ। हे सर्वज्ञ प्रभो! आप मेरे जीवन को पवित्र कीजिए। मेरा शरीर स्वस्थ हो, मन निर्मल हो और मस्तिष्क ज्ञान से दीप्त हो॥ ३॥

पवित्रेण पुनीति मा शुक्रेण देव दीद्यत्।
अग्ने क्रत्वा क्रतूँ१ रनु॥ ४॥

—यजुः० अ० १९। ४०

अर्थ—हे ज्ञान-ज्योति से दीप्त और अन्तःकरणों को द्योतित करनेवाले प्रभो! मुझे पवित्रता के सर्वोत्तम साधन-ज्ञान से पवित्र कीजिए—(**नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते**)। हे तेजस्विता से दीप्त प्रभो! आप मुझे शीघ्रता से कार्य करने में समर्थ करनेवाली वीर्यशक्ति से पवित्र कीजिए। यह 'शुक्र' ही तो मेरे मन को निर्मल बनाएगा। हे प्रकाशस्वरूप प्रभो! यज्ञों=श्रेष्ठतम कर्मों में प्रेरित करके आप हमारी बुद्धि व कर्मों को पवित्र कीजिए॥ ४॥

यत्ते पवित्रमर्चिष्यग्ने विततमन्तरा।
ब्रह्म तेन पुनातु मा॥ ५॥ —यजुः० १९। ४१

अर्थ—हे ज्ञानाग्निरूप प्रभो! सब पवित्रताओं का साधनभूत जो वेदज्ञान आपके शुद्ध तेजःस्वरूप में विकसित है, उस उत्तम ज्ञान से मुझे पवित्र कीजिए। आपका वेदरूपी ज्ञान मेरे सारे मलों, दोषों, दुर्गुणों और दुर्व्यसनों को दूर कर दे॥ ५॥

पवमानः सोऽअद्य नः पवित्रेण विचर्षणिः।
यः पोता स पुनातु मा॥ ६॥

—यजुः० १९। ४२

अर्थ—जीवनों को शुद्ध करनेवाला और सौम्यस्वरूप परमेश्वर हमारे जीवनों को शीघ्र पवित्र कर दे। वह हमारे शरीर के रोगों को नष्ट करके हमें स्वस्थ बनाए। हमारे कृत और अकृत को जाननेवाला यह सर्वद्रष्टा प्रभु अपने पवित्रकारक ज्ञान से मुझे पवित्र करे। हमारे हृदयों को पूर्णरूप से पवित्र करनेवाला तथा वासनाओं को भस्म करके शुद्धता उत्पन्न करनेवाला प्रभु मुझे पूर्ण पवित्र बना दे॥ ६॥

उभाभ्यां देव सवितः पवित्रेण सवेन च।
मां पुनीहि विश्वतः॥ ७॥

—यजु:० १९।४३

अर्थ—हे सब दिव्य गुणों के पुञ्ज तथा सदा सत्कर्मों में प्रेरित करनेवाले प्रभो! आप पवित्रता के अद्भुत साधन ज्ञान से तथा यज्ञात्मक श्रेष्ठ कर्मों से—इन ज्ञान व कर्म दोनों से मुझे सब ओर से—'शरीर, मन व बुद्धि' सब दृष्टिकोणों से पवित्र कर

दीजिए। मेरा ज्ञान उत्तम हो, जिससे मैं सदा उत्तम कर्मों में लगा रहूँ। मेरा शरीर, मन और बुद्धि—सभी स्वस्थ, सबल और निर्दोष हों॥ ७॥

येन देवाः पवित्रेणात्मानं पुनते सदा।
तेन सहस्त्रधारेण पावमानीः पुनन्तु नः॥ ८॥

—सामवेद १३०२

अर्थ—निष्काम ज्ञानी जिस पवित्र वेदज्ञान के द्वारा अपने-आपको (स्वयं को) सदा पवित्र करते हैं, उस सहस्रों आनन्द-धाराओंवाले ज्ञान के द्वारा वेद की पवित्र ऋचाएँ हमें पवित्र कर दें। जैसे जल की धाराएँ हमारे बाह्य मलों को धो डालती हैं, वैसे ही वेद की ज्ञानात्मक आनन्दधाराएँ हमारे अन्तःकरणों को शुद्ध कर डालें॥ ८॥

यद्देवा देवहेडनं देवासश्चकृमा वयम्।
अग्निर्मा तस्मादेनसो विश्वान्मुञ्चत्वꣳ हसः॥ ९॥

—यजु:० अ० २०।१४

अर्थ—हे विद्वान पुरुषो! ज्ञानी व समझदार

होते हुए भी हम देवों=माता-पिता, आचार्य आदि का जो अपराध और अनादर करते हैं, भौतिक देवों (अग्नि, वायु, जल, पृथिवी) का जो अनुचित या अप-प्रयोग करते हैं, उन्हें घृणित या व्यर्थ समझते हैं, ज्योतिर्मय परमेश्वर हमें उस समस्त अपराध और अनादर-भावना से मुक्त करे और इस अपराध व अनादरवृत्ति के मोचन द्वारा उस अपराध व अनादर से होनेवाली पीड़ा से भी हमें बचाए ॥ ९ ॥

यदि दिवा यदि नक्तमेनाꣳसि चकृमा वयम्।
वायुर्मा तस्मादेनसो विश्वान्मुञ्चत्वꣳहसः ॥ १० ॥

—यजुः० २०।१५

अर्थ—यदि दिन में या रात्रि में हम पाप कर बैठते हैं, यदि दिन को आलस्य, प्रमाद और अकर्मण्यता में व्यतीत कर देते हैं और रात्रि में देर तक जागते रहना रूपी अपराध करते हैं तो वायु=गतिप्रदाता और दोषों का हिंसन करनेवाला परमेश्वर मुझे उस सम्पूर्ण पाप से छुड़ाए और इस प्रकार उन

पापों से होनेवाले कष्टों से भी मुक्त करे ॥ १० ॥

यदि जाग्रद्यदि स्वप्नाऽएनाꣳसि चकृमा वयम्।
सूर्यो मा तस्मादेनसो विश्वान्मुञ्चत्वꣳहसः ॥ ११ ॥

—यजुः० २०।१६

अर्थ—यदि जागते हुए, यदि सोते हुए हम पाप कर बैठते हैं। जागृत अवस्था में अपने व्यवहारों में गलतियाँ कर बैठते हैं। यदि दिन में किसी प्रकार अपने को नियन्त्रण में कर भी लिया तो दिन में सोची-विचारी बातों को वासना के वशीभूत होकर रात्रि में कर बैठते हैं। सूर्य=सर्वप्रेरक परमेश्वर मुझे ऐसे सब पापों से मुक्त करे और उन पापों से होनेवाले कष्टों से भी मुझे बचाए ॥ ११ ॥

यद् ग्रामे यदरण्ये यत्सभायां यदिन्द्रिये।
यच्छूद्रे यदर्ये यदेनश्चकृमा वयं यदेकस्याधि-
धर्मणि तस्यावयजनमसि ॥ १२ ॥

—यजुः० २०।१७

अर्थ—ग्राम के विषय में, वन के विषय में, सभा के विषय में, इन्द्रियों के विषय में शूद्र=

श्रमशीलजनों के विषय में, अर्य=स्वामी या वैश्य के विषय में और किसी के एकाधिकारपूर्ण शासन में हम जो अपराध करें, हे परमेश्वर! आप उस अपराध के विनाशक=दूर करनेवाले हैं।

देवकृतस्यैनसोवयजनमसि मनुष्यकृतस्यैनसोवयजनमसि पितृकृतस्यैनसोवयजनमस्यात्मकृतस्यैनसोवयजनमस्येनसऽएनसोवयजनमसि। यच्चाहमेनो विद्वाँश्चकारयच्चाविद्वाँस्तस्य सर्वस्यैनसोवयजनमसि ॥ १३ ॥

—यजुः० ८। १३

अर्थ—हे परमोपकारक प्रभो! आप देवों के विषय में किये गये पापों को दूर करनेवाले हो। आपकी प्रेरणा से हम पृथिवी-जल आदि देवों को दूषित नहीं करते। हे प्रभो! आप मनुष्यों के प्रति किये गये पाप को दूर करनेवाले हैं। आपकी सुप्रेरणा से हम मनुष्यों के प्रति अहिंसा-धर्म का पालन करते हैं। आप माता-पिता के प्रति किये गये

पाप को दूर करनेवाले हैं। आपकी प्रेरणा से हम उनका उपकार मानते हुए उनके प्रति कृतज्ञ होते हैं और कभी उनकी अवज्ञा नहीं करते। आप आत्मा के विषय में किये गये पाप को दूर करनेवाले हैं। आपकी प्रेरणा के फलस्वरूप हम आत्मा को भुलाकर पार्थिव भोगों में ही लिप्त नहीं हो जाते। प्रभो! आप हमें एक-एक पाप से—प्रत्येक पाप से दूर करनेवाले हैं। मैं जानता हुआ और न जानता हुआ जो पाप कर बैठता हूँ, उन सब पापों को आप दूर करनेवाले हैं॥ १३ ॥

ऋतं च सत्यं चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत। ततो रात्र्यजायत। ततः समुद्रो अर्णवः ॥ १४ ॥

—ऋग्वेद १०। १९०। १

अर्थ—ईश्वर ने अपने ज्ञानमय अनन्त सामर्थ्य से सब विद्याओं के अक्षय कोश वेदों और कार्यरूप प्रकृति को प्रकट किया। उसी परमेश्वर के अनन्त सामर्थ्य से प्रलयरूपी रात्रि उत्पन्न हुई और उसी

परमेश्वर के ज्ञानमय सामर्थ्य से पृथिवी और मेघमण्डलस्थ समुद्र उत्पन्न हुआ॥ १४॥

समुद्रादर्णवादधि संवत्सरो अजायत।
अहोरात्राणि विदधद्विश्वस्य मिषतो वशी॥ १५॥

—ऋ० १०।१९०।२

अर्थ—उस जल-परिपूर्ण समुद्र की उत्पत्ति के पश्चात् संवत्सर अर्थात् क्षण, मुहूर्त्त, प्रहर आदि काल उत्पन्न हुआ। सबको वश में रखनेवाले, सारे ब्रह्माण्ड के नियामक और व्यवस्थापक परमेश्वर ने सहज स्वभाव से जगत् के रात्रि, घटिका, पल और क्षण आदि रचे हैं॥ १५॥

सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्।
दिवं च पृथिवीं चान्तरिक्षमथो स्वः॥ १६॥

—ऋ० १०।१९०।३

अर्थ—सब जगत् का धारण और पोषण करनेवाले, सब जगत् को वश में रखनेवाले उसी ज्ञानमय प्रभु ने अपने अनन्त सामर्थ्य से सूर्य और चन्द्रमा को; द्युलोक, पृथिवीलोक और अन्तरिक्ष

को; मध्यवर्ती लोकलोकान्तरों को और उन लोकों में सुखविशेष के पदार्थों को पूर्वकल्प के अनुसार रचा है अर्थात् जैसा उसके सर्वज्ञ विज्ञान में जगत् रचने का ज्ञान था, पूर्वकल्प में जगत् की जैसी रचना की थी और जैसे जीवों के पाप-पुण्य थे, उन्हीं के अनुसार परमेश्वर ने मनुष्यादि प्राणियों के देह बनाये हैं॥ १६॥

वैदिक-श्रीसूक्तम्

ओ३म्। वाजश्च मे प्रसवश्च मे प्रयतिश्च मे प्रसितिश्च मे धीतिश्च मे क्रतुश्च मे स्वरश्च मे श्लोकश्च मे श्रवश्च मे श्रुतिश्च मे ज्योतिश्च मे स्वश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्॥ १ ॥

—यजुः० अ० १८। मं० १

अर्थ—मेरा अन्न, बल तथा शक्ति और उनके प्रयोग करने का विज्ञान; मेरा ऐश्वर्य और उसकी प्राप्ति के साधन; मेरा पुरुषार्थ और उसके साधन; मेरा प्रबन्ध और रक्षा; मेरी धारणा और ध्यान; मेरी प्रज्ञा और उत्साह; मेरी स्वतन्त्रता और कठोर तप; मेरी सुशिक्षित वाणी और वक्तृता; मेरा सुनना और सुनाना; मेरी विद्या और उसके अनुकूल स्मृति; मेरा विद्याप्रकाश और दूसरों के लिए विद्याप्रदान; मेरा सुख और परमसुख—ये सब परमपूज्य परमेश्वर की अनुकम्पा और यज्ञ के द्वारा समर्थ हों। ये सभी वस्तुएँ और गुण मुझे प्राप्त हों औ[illegible] जीवन को

सुजीवन बनाएँ॥ १ ॥

प्राणश्च मेऽपानश्च मे व्यानश्च मेऽसुश्च मे चित्तं च मऽआधीतं च मे वाक् च मे मनश्च मे चक्षुश्च मे श्रोत्रं च मे दक्षश्च मे बलं च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्॥ २ ॥

—यजुः० अ० १८। मं० २

अर्थ—मेरी प्राणशक्ति=हृदय और कण्ठदेश में स्थित वायु, मेरा अपान=नाभि से नीचे और नाभि में स्थित वायु (समानवायु), मेरा व्यान=शरीर की सब सन्धियों में व्याप्त वायु और धनञ्जय वायु, मेरा असु=नागवायु और कूर्म आदि अन्य सब वायु, मेरा चित्त=मेरी स्मृति और बुद्धि, मेरी निश्चयवृत्ति और उसका पालन, मेरी वाणी और उसका श्रवण—सुनना, मेरी सङ्कल्प-विकल्पात्मकवृत्ति और अहंकार, मेरे नेत्र और प्रत्यक्ष प्रमाण, मेरे कान और आगम=शास्त्र-प्रमाण, मेरी चतुरता और प्रतिभा, मेरा बल और पराक्रम—ये सब धर्माचरण द्वारा

सामर्थ्ययुक्त हों—ये सभी सबल, तेज और ओज से युक्त हों ॥ २ ॥

ओजश्च मे सहश्च मऽआत्मा च मे तनूश्च मे शर्म च मे वर्म च मेऽङ्गानि च मेऽस्थीनि च मे परूंषि च मे शरीराणि च मऽआयुश्च मे जरा च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥ ३ ॥

—यजुः० अ० १८। मं० ३

अर्थ—मेरा ओज=शरीर में स्थित बल और तेज, मेरा सह=शारीरिक और मानस बल, मेरा आत्मा=अपना स्वरूप और सामर्थ्य, मेरा शरीर और शरीर के सब अवयव, मेरा घर और घर के सब पदार्थ, मेरा रक्षक कवच और अन्य शस्त्र-अस्त्र, मेरे सभी अङ्ग और उपांग, मेरी हड्डियाँ और अन्य आन्तरिक अङ्ग, मेरे मर्मस्थल और जीवन के हेतु अन्य स्थल, मेरे सम्बन्धियों के शरीर और उनके शरीरों के सूक्ष्म अवयव, मेरा जीवन और जीवन के साधन, मेरी वृद्ध और जरावस्था—ये सब

परमात्मा की कृपा और अनुग्रह से सामर्थ्य से युक्त हों अर्थात् शरीर के सभी अङ्ग-उपाङ्ग हृष्ट-पुष्ट, बलिष्ठ और जीवन के सभी साधनों से युक्त हों ॥ ३ ॥

ज्यैष्ठ्यं च मऽआधिपत्यं च मे मन्युश्च मे भामश्च मेऽमश्च मेऽम्भश्च मे जेमा च मे महिमा च मे वरिमा च मे प्रथिमा च मे वर्षिमा च मे द्राघिमा च मे वृद्धं च मे वृद्धिश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥ ४ ॥ —यजुः० अ० १८। मं० ४

अर्थ—मेरा बड़प्पन और श्रेष्ठ वस्तुएँ, मेरा स्वामित्व और सम्पत्ति, मेरा मन्युः=अभिमान और शान्ति, मेरा भामः=क्रोध और सहनशीलता, मेरा अमः=न्याय से प्राप्त गृहादि और प्राप्त करने योग्य अन्य पदार्थ, मेरे अम्भः=जल और दुग्धादि अन्य पदार्थ, मेरी जयशीलता और विजय, मेरी महिमा और प्रतिष्ठा, मेरी श्रेष्ठता और उत्तम आचार, मेरी विशालता और सुसन्तान, मेरा दीर्घ जीवन और

मोक्ष, मेरी अविच्छिन्न वंशपरम्परा और सुप्रजा, मेरा प्रभूत धन और नाना प्रकार के अन्न, मेरी वृद्धि=विद्यादि गुणों और सत्क्रिया के द्वारा उत्तम स्थिति और उनसे उत्पन्न सुख—ये सब परमेश्वर के कृपाकटाक्ष और धर्म के अनुष्ठान से सामर्थ्ययुक्त हों॥४॥

सदसस्पतिमद्भुतं प्रियमिन्द्रस्य काम्यम्।
सनिं मेधामयासिषꣳस्वाहा॥५॥

—यजुः० अ० ३२। मं० १३

अर्थ—मैं सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के स्वामी, अद्भुत गुण-कर्म-स्वभाववाले=आश्चर्यरूप, प्राणिमात्र का हित करनेवाले, कामना करने=चाहनेयोग्य परमेश्वर की स्तुति और उपासना करके उससे भोग-योग्य सामग्री—नाना प्रकार के अन्न, धन और मेधा=धारणावती बुद्धि की याचना करता हूँ। स्वाहा=यह बुद्धि की प्रार्थना अत्युत्तम हुई है। इससे बढ़कर और क्या प्रार्थना हो सकती है॥५॥

यां मेधां देवगणाः पितरश्चोपासते।
तया मामद्य मेधयाग्ने मेधाविनं कुरु स्वाहा॥६॥

—यजुः० अ० ३२। मं १४

अर्थ—जिस धारणावती बुद्धि को देव=विद्वान् लोग चाहते हैं और पितर=विशेष ज्ञानीजन जिस मेधावी बुद्धि की कामना करते हैं, हे सर्वोन्नति साधक प्रकाशस्वरूप प्रभो! मुझे आज ही—इसी जीवन में उस मेधा-बुद्धि से मेधा-सम्पन्न कर दीजिए। यह मेरी हार्दिक प्रार्थना है। इसके लिए मैं अपने स्वार्थ का त्याग करता हूँ॥६॥

मेधां मे वरुणो ददातु मेधामग्निः प्रजापतिः।
मेधामिन्द्रश्च वायुश्च मेधां धाता ददातु मे स्वाहा॥७॥ —यजुः० अ० ३२। मं० १५

अर्थ—सर्वश्रेष्ठ तथा वरणीय परमेश्वर मुझे मेधा=धारणावती बुद्धि और धन प्रदान करे। अग्नि=प्रकाशस्वरूप और सबको आगे ले-चलनेवाला तथा सब प्रजाओं का रक्षक परमेश्वर मुझे मेधा

बुद्धि और धन प्रदान करे। परमैश्वर्यशाली, अत्यन्त बलशाली और सर्वप्रेरक तथा सबका धारक परमेश्वर मुझे मेधा=ऐश्वर्य, मेधावती बुद्धि और सबको धारण करनेवाला धन प्रदान करे। इस मेधा और धन की प्राप्ति के लिए मैं आत्म-समर्पण करता हूँ॥ ७॥

इदं मे ब्रह्म च क्षत्रं चोभे श्रियमश्नुताम्।
मयि देवा दधतु श्रियमुत्तमां तस्यै ते स्वाहा॥ ८॥

—यजुः० अ० ३२। मं० १६

अर्थ—मेरा ब्रह्मबल और क्षात्रबल दोनों श्री को प्राप्त हों अर्थात् मेरा ज्ञान और बल दोनों ही फूलें-फलें—मेरा ज्ञान भी बढ़े और क्रियाशक्ति भी बढ़े। देवगण मुझमें अतिश्रेष्ठ श्री=लक्ष्मी—धन-सम्पत्ति को धारण करें और दिव्य गुण उत्तम श्री=शोभा, सौन्दर्य को धारण करें। मेरे हृदय में दिव्यता हो, मेरा हृदय अभिमान से रहित हो और उसमें विनम्रता हो। इस प्रकार मस्तिष्क में ज्ञान,

हाथों में कर्मशक्ति और हृदय में विनय—यही जीवन का चरमोत्कर्ष है। इस उत्तम श्री के लिए हे प्रभो! मैं आपके प्रति अपना समर्पण करता हूँ॥ ८॥

मनसः काममाकूतिं वाचः सत्यमशीय।
पशूनाꣳ रूपमन्नस्य रसो यशः श्रीः श्रयतां मयि स्वाहा॥ ९॥ —यजुः० अ० ३९। मं० ४

अर्थ—हे प्रभो! आपकी कृपा से मैं मन की शुभ कामना तथा शिवसङ्कल्प को, वाणी के सत्य को, पशुओं के स्वाभाविक गुणों को—उनके रूप-सौन्दर्य को और अन्न के रस को प्राप्त करूँ—जीवन में इनका सेवन करूँ। यश, धन-धान्य और ऐश्वर्य मुझ में आश्रित होकर रहें—यह मेरी हार्दिक कामना है॥ ९॥

कया नश्चित्रऽआभुवदूती सदावृधः सखा
कया शचिष्ठया वृता॥ १०॥

—यजुः० अ० ३६। मं० ४

अर्थ—हे परमेश्वर! अद्‌भुत, आश्चर्यजनक गुण-कर्म-स्वभाववाला और जीवात्मा को सदा उन्नति की ओर ले-जानेवाला तू किस प्रसाद=प्रसन्न करने की विधि से, किस कर्म=व्यवहार से और किस आचरण से हमारा मित्र और सहायक बन सकता है—मित्र के समान हमारा कल्याण कर सकता है, जिससे कि जीवन के चारों फल—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष को प्राप्त करने में समर्थ होते हैं। परमात्मा किन कर्मों और आचरणों से प्राप्त होता है, भक्तों को सदा यह चिन्तन करना चाहिए॥ १०॥

अग्ने नय सुपथा रायेऽअस्मान् विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्। युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठान्ते नमऽउक्तिं विधेम॥ ११॥

—यजुः० अ० ५। मं ३६

अर्थ—हे सबको आगे ले-चलनेवाले प्रकाशस्वरूप परमात्मन्! विविध ऐश्वर्यों—धन-धान्य की प्राप्ति के लिए आप हमें सुपथ से ले-

चलिए। सब ऐश्वर्यों और सुखों के प्रदाता प्रभो! आप हमारे सारे कर्मों और प्रज्ञानों को जानते हैं, अत: पाप और कुटिलता को हमसे दूर कीजिए। आपकी कृपा और उपकारों के लिए हम बारम्बार आपको प्रणाम करते हैं॥ ११॥

दिवो वा विष्णऽउत वा पृथिव्या महो वा विष्णऽउरोरन्तरिक्षात्। उभा हि हस्ता वसुना पृणस्वा प्रयच्छ दक्षिणादोत सव्याद्विष्णवे त्वा॥ १२॥ —यजुः० अ० ५। मं० १९

अर्थ—हे सर्वव्यापक प्रभो! चाहे द्युलोक से या पृथिवीलोक से अथवा अत्यन्त विशाल अन्तरिक्षलोक से आप हमारे दोनों हाथों को धन से अवश्य भर दीजिए। दक्षिण और वाम पार्श्व से—सभी ओर से हमें धन-ऐश्वर्यों से भरपूर कर दीजिए। सर्वत्र व्याप्त तुझ परमेश्वर को पाने के लिए हम तुझे नमस्कार करते हैं और तुझे प्राप्त करने के लिए यत्नशील होते हैं॥ १२॥

भूरिदा भूरि देहि नो मा दभ्रं भूर्या भर।
भूरि घेदिन्द्र दित्ससि ॥ १३ ॥

—ऋ० ४।३२।२०

अर्थ—हे बहुदानी! बहुत अधिक देनेवाले प्रभो! तू हमें खूब दे—बहुत अधिक धन प्रदान कर, थोड़ा-थोड़ा मत दे, खूब भरपूर कर दे। हे ऐश्वर्यशालिन्! तू निश्चय ही बहुत अधिक देनेवाला है ॥ १३ ॥

इन्द्र श्रेष्ठानि द्रविणानि धेहि चित्तिं दक्षस्य सुभगत्वमस्मे। पोषं रयीणामरिष्टिं तनूनां स्वाद्मानं वाचः सुदिनत्वमह्नाम् ॥ १४ ॥ —ऋ० २।२१।६

अर्थ—हे परमैश्वर्यशालिन्! आप हमें श्रेष्ठ धन प्रदान कीजिए। कौन-से श्रेष्ठ धन? हमें उत्साह का ज्ञान दीजिए। हमारे हृदय में उत्साह की तरंगें उठती रहें, हमारा भाग्य अच्छा हो, धन हमारे पास खूब हो, हमारे शरीर नीरोग हों, हमारी वाणी में माधुर्य हो और हमारे दिन सुदिन बनें (हमारा प्रत्येक दिन ईश्वर-चिन्तन, वेदाध्ययन और शुभकर्मों में व्यतीत हो, हम व्यसनों, आलस्य और कलह आदि से बचें) ॥ १४ ॥

भूर्भुवः स्व। प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो विश्वा जातानि परि ता बभूव। यत्कामास्ते जुहुमस्तन्नो अस्तु वयं स्याम पतयो रयीणाम् ॥ १५ ॥

—ऋ० १०।१२१।१०

अर्थ—हे सच्चिदानन्दस्वरूप! प्रजा के स्वामी परमेश्वर! संसार में उत्पन्न हुए जितने भी जड़ और चेतन पदार्थ हैं आप उनमें सर्वोपरि=सर्वश्रेष्ठ और सर्वमहान् हैं, अतः जिस-जिस पदार्थ की कामनावाले हम लोग आपका आश्रय लेवें और कामना करें हमारी वह-वह कामना सिद्ध हो—पूर्ण हो। हमारी कामना है कि हम धनैश्वर्यों के स्वामी होंवे ॥ १५ ॥

श्रीश्च ते लक्ष्मीश्च पत्न्यावहोरात्रे पार्श्वे नक्षत्राणि रूपमश्विनौ व्यात्तम्। इष्णन्निषाणामुं

मऽइषाण सर्वलोकं मऽइषाण ॥ १६ ॥

—यजुः० अ० ३१। मं० २२

अर्थ—हे जगदीश्वर! संसार में दृष्टिगोचर होनेवाली सब श्री और लक्ष्मी-शोभा और सारा ऐश्वर्य आपकी पत्नी=सहचरी के तुल्य है। दिन और रात्रि आपकी दो भुजाओं के तुल्य हैं अर्थात् आप कालस्वरूप हैं। आकाश में गतिशील नक्षत्र आपके प्रकाशस्वरूप हैं। पृथिवी और द्युलोक आपके खुले हुए मुख के समान हैं। ऐसे आप में मैं निवास करता हूँ आप मेरे अन्दर-बाहर चारों ओर व्यापक हैं, अतः आप मेरे लिए परोक्ष सुख को चाहते हुए उससे मुझे प्राप्त कराइए ॥ १६ ॥

वैदिक-सरस्वती-सूक्तम्

ओ३म्। पावका नः सरस्वती वाजेभिर्वाजिनी-वती। यज्ञं वष्टु धिया वसुः ॥ १ ॥

—ऋग्वेद १।३।१०

अर्थ—विद्या हमें पवित्र करनेवाली है। पवित्रता प्रदान करने के कारण यह विद्या जहाँ मोक्ष-प्राप्ति का साधन बनती है, वहाँ अन्न=भोग्य पदार्थों की प्राप्ति कराने के कारण अन्नवाली भी है। इस प्रकार लौकिक दृष्टिकोण से यह अभ्युदय प्राप्त करानेवाली है। विद्या की आराधना से मनुष्य उन अन्नों को प्राप्त करता है जो उसे शक्तिशाली और त्यागशील बनाते हैं। ज्ञानपूर्वक होनेवाले अनेक कर्मों द्वारा धन देनेवाली यह विद्या हमारे जीवन-यज्ञों को कान्तिमान् और सफल बनाये ॥ १ ॥

चोदयित्री सूनृतानां चेतन्ती सुमतीनाम्। यज्ञं दधे सरस्वती ॥ २ ॥ —ऋग्वेद १।३।११

अर्थ—सरस्वती=विद्या दुःखों को नष्ट

करनेवाली और सत्यवाणियों की प्रेरणा देनेवाली है। ज्ञानी ऐसी वाणी बोलता है जो प्रिय होती है, दूसरों के दुःखों को दूर करनेवाली और सत्य=यथार्थ होती है। यह उत्तम मतियों=विचारों को चेतानेवाली होती है। ज्ञानी के मस्तिष्क में कुमति और कुविचार आते ही नहीं। यह रसवती विद्या मनुष्यों में श्रेष्ठ कर्मों को स्थापित करती है। ज्ञानी उत्तम कर्म ही करता है; खोटे, निकृष्ट और पापपूर्ण कर्म नहीं करता॥ २॥

महो अर्णः सरस्वती प्र चेतयति केतुना।
धियो विश्वा वि राजति॥ ३॥

—ऋग्वेद १।३।१२

अर्थ—यह विद्या ज्ञान का विशाल समुद्र है। यह ज्ञान के प्रकाश के द्वारा आराधक को प्रकृष्ट चेतना प्राप्त कराती है, उसके जीवन को ज्ञान-ज्योति से द्योतित कर देती है—चमका देती है। यह विद्या सम्पूर्ण ज्ञानों को विशेषरूप से प्रकाशित—

प्रकट कर देती है॥ ३॥

सदसस्पतिमद्भुतं प्रियमिन्द्रस्य काम्यम्
सनिं मेधामयासिषम्॥ ४॥ —ऋग्वेद १।१८।६

अर्थ—मैं सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के स्वामी, अद्भुत गुण-कर्म-स्वभाववाले=आश्चर्यरूप, प्राणिमात्र का हित करनेवाले, कामना करने योग्य=चाहने योग्य परमेश्वर की स्तुति और उपासना करके उससे भोग-योग्य सामग्री—नाना प्रकार के अन्न-धन और मेधा=धारणावती बुद्धि की—याचना करता हूँ॥ ४॥

यां मेधां देवगणाः पितरश्चोपासते। तया मामद्य मेधयाग्ने मेधाविनं कुरु स्वाहा॥ ५॥

—यजुः० ३२।१४

अर्थ—जिस धारणावती बुद्धि को देव=विद्वान् लोग चाहते हैं और पितर=विशेष ज्ञानीजन जिस बुद्धि की कामना करते हैं। हे सर्वोन्नतिसाधक प्रकाशस्वरूप प्रभो! मुझे आज ही उस मेधाबुद्धि

से मेधा-सम्पन्न कर दीजिए। यह मेरी हार्दिक प्रार्थना है। इसके लिए मैं अपने स्वार्थ का त्याग करता हूँ॥ ५ ॥

मेधां मे वरुणो ददातु मेधामग्निः प्रजापतिः। मेधामिन्द्रश्च वायुश्च मेधां धाता ददातु मे स्वाहा ॥ ६ ॥

—यजुः० ३२। १५

अर्थ—सर्वश्रेष्ठ और वरणीय परमेश्वर मुझे मेधाबुद्धि प्रदान करे। अग्नि=प्रकाशस्वरूप और सब को आगे ले-चलनेवाला तथा सब प्रजाओं का रक्षक परमेश्वर मुझे मेधाबुद्धि और धन प्रदान करे। परमैश्वर्यशाली, अत्यन्त बलशाली और सर्वप्रेरक एवं सबका धारक परमेश्वर मुझे मेधाबुद्धि प्रदान करे। इस मेधाबुद्धि की प्राप्ति के लिए मैं आत्मसमर्पण करता हूँ॥ ६ ॥

अम्बितमे नदीतमे देवितमे सरस्वति। अप्रशस्ताइव स्मसि प्रशस्तिमम्ब नस्कृधि ॥ ७ ॥

—ऋग्वेद २। ४१। १६

अर्थ—हे अम्बितमे=माता के समान हितकारिणि! नदीतमे=सबसे उत्तम उपदेश करनेवाली! देवितमे=उत्तम गुणों को प्राप्त करानेवाली! सरस्वति=उत्तम शिक्षा देने तथा स्नेह करनेवाली विद्या देवि! तेरे बिना हम कुछ अप्रशस्त-से—साधारण-से जीवनवाले हो गये हैं, तेरे बिना हमारा जीवन पवित्र नहीं बन पाया है। हे अम्ब=उत्तम ज्ञानोपदेश करनेवाली मातः! तू हमारे जीवन को प्रशस्त—स्तुति के योग्य प्रशंसनीय जीवनवाला यशस्वी बना दे। ज्ञान-नदी में स्नान कराके हमें पवित्र, निर्मल, ओजस्वी, तेजस्वी और दिव्य बना दे॥ ७ ॥

त्वे विश्वा सरस्वति श्रितायूंषि देव्याम्। शुनहोत्रेषु मत्स्व प्रजां देवि दिदिड्ढि नः ॥ ८ ॥

—ऋग्वेद २। ४१। १७

अर्थ—हे सरस्वति=विद्या की अधिष्ठातृ! सर्वव्यहार-साधिका, प्रकाशमयी तुझ देवी में ही

सब जीवन आश्रित हैं। तू ही सबके जीवन का आधार है। ज्ञान के बिना तो मनुष्य पशु ही है। तू गतिशील, आलस्यरहित, दानशील और भोगों में अनासक्त पुरुषों में रमण कर—आनन्द अनुभव कर, ज्ञान वस्तुतः आलस्यशून्य-क्रियाशील, त्यागी=दानशील और भोगों में अनासक्त पुरुषों को ही प्राप्त होता है। देवि=प्रकाशमयी मातः! तू हमारे लिए उत्कृष्ट विकास को देनेवाली हो। ज्ञान से ही मनुष्य की शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक और आत्मिक शक्तियों का विकास होता है। अथवा तू हमारी प्रजाओं को उत्तम उपदेश कर। विद्या से सुभूषित बनाकर तू हमें उत्तम प्रजा प्रदान कर॥ ८ ॥

प्र णो देवी सरस्वती वाजेभिर्वाजिनीवती।
धीनामवित्र्यवतु॥ ९ ॥ —ऋग्वेद ६।६१।४

अर्थ—हमारे जीवनों को दिव्य गुण-सम्पन्न बनानेवाली सरस्वति=विद्यादेव! तू हमारा प्रकर्षेण=खूब ही रक्षण कर। बलों के द्वारा बलवाली, अन्नों के द्वारा अन्नवाली और विज्ञान के द्वारा प्रशस्त विज्ञानवाली यह विद्या हमें प्रशस्त अन्न, बल और विज्ञान से युक्त करती है। यह हमारी बुद्धियों का रक्षण करनेवाली है॥ ९ ॥

यस्त्वा देवि सरस्वत्युपब्रूते धने हिते।
इन्द्रं न वृत्रतूर्ये॥ १० ॥ —ऋग्वेद ६।६१।५

अर्थ—हमारे जीवनों को प्रकाशमय बनानेवाली सरस्वति=विद्या देवि! जो हितकारी ज्ञान-धन के निमित्त तुझे पुकारता है—तेरी आराधना करता हुआ ज्ञान-प्राप्ति का प्रयत्न करता है, वही तेरा आराधक वासनारूपी संग्राम के उपस्थित होने पर शत्रु-विद्रावक इन्द्र=परमैश्वर्यशाली प्रभु को पुकारता है। प्रभु की उपासना से वासनाओं का विनाश करके वह व्यक्ति सरस्वती की उपासना से हितकारी ज्ञानरूपी धन प्राप्त करता है॥ १० ॥

त्वं देवि सरस्वत्यवा वाजेषु वाजिनि।
रदा पूषेव नः सनिम्॥ ११ ॥

—ऋग्वेद ६।६१।६

अर्थ—हमारे जीवनों को प्रकाशमय बनानेवाली सरस्वति=विद्यादेवि! तू हमारी रक्षा कर। प्रकृष्ट ज्ञान, बल और अन्न से युक्त विद्यादेवि! ज्ञान, बल और अन्न प्राप्ति के लिए तुझे ही हमारा रक्षण करना है। पोषण करनेवाली भूमि के समान तू हमारा पालन कर तथा हमें सत्य और असत्य का विवेक करनेवाली बुद्धि प्रदान कर॥ ११॥

उत स्या नः सरस्वति घोरा हिरण्यवर्तनिः।
वृत्रघ्नी वष्टि सुष्टुतिम्॥ १२॥

—ऋग्वेद ६।६१।७

अर्थ—विद्यादेवी हमारे लिए शत्रुओं का विनाश करनेवाली और ज्योतिर्मय भोगवाली हो। विद्या की आराधना कराता हुआ मैं काम-क्रोध आदि शत्रुओं का नाश कर सकूँ और अपने जीवन के मार्ग को ज्योतिर्मय बना सकूँ। कामवासना को नष्ट करनेवाली यह विद्यादेवी उत्तम स्तुति की कामना करती है अर्थात् सरस्वती का उपासक प्रभु

की आराधना करता है और यह प्रभु-उपासना उसे पापों से बचाती है॥ १२॥

उत नः प्रिया प्रियासु सप्तस्वसा सुजुष्टा।
सरस्वती स्तोम्या भूत्॥ १३॥

—ऋग्वेद ६।६१।१०

अर्थ—गायत्री आदि सात छन्दरूपी स्वसाओं=बहिनोंवाली यह सरस्वती=वेदरूपी ज्ञान की वाणी हमारे लिए प्रिय वस्तुओं में प्रियतम हो। हमारे द्वारा प्रीतिपूर्वक सेवन की जाती हुई यह स्तुति के योग्य है। हम सरस्वती की आराधना करते हुए प्रभुस्तवन की वृत्तिवाले हों॥ १३॥

सरस्वतीं देवयन्तो हवन्ते सरस्वतीमध्वरे तायमाने। सरस्वतीं सुकृतो अह्वयन्त सरस्वती दाशुषे वार्यं दात्॥ १४॥ —ऋग्वेद १०।१७।७

अर्थ—दिव्य गुणों और दिव्यता के पुञ्ज परमात्मा की प्राप्ति के इच्छुक विद्या की आराधना करते हैं—विद्या का उपार्जन करते हैं। अध्वर=

हिंसारहित शुभ कर्मों के अनुष्ठान के लिए मनुष्य विद्या की आराधना करते हैं—अधिक-से-अधिक ज्ञान प्राप्त करते हैं। यज्ञों के सुचारु सम्पादन के लिए भी विद्या का आश्रय लेते हैं। सुकृत:=पुण्यशाली लोग सरस्वती को पुकारते हैं—विद्या की चाहना करते हैं, क्योंकि यह उन्हें पवित्र बना देती है। विद्या के प्रति अपना समर्पण करनेवाले के लिए—सारा समय ज्ञानार्जन में लगानेवाले के लिए यह सरस्वती सब वरणीय वस्तुओं को प्राप्त कराती है। अपने-आपको विद्या के प्रति समर्पित कर देनेवाले के लिए अन्न, धन, वस्त्र किसी भी वस्तु की कमी नहीं रहती ॥ १४ ॥

सरस्वति या सरथं ययाथ स्वधाभिर्देवि पितृभिर्मदन्ती। आसद्यास्मिन्बर्हिषि मादयस्वान-मीवा इष आ धेह्यस्मे॥ १५ ॥

—ऋग्वेद १०।१७।८

अर्थ—हमारे जीवनों को दिव्य गुणों से

चमकानेवाली ज्ञान-ज्योति! तू अपनी रक्षणशक्तियों के साथ अपनी सकल हितरमणीयताओं के साथ हमें प्राप्त हो। हमारा जीवन ज्ञान-ज्योति से जगमगा उठे। तू स्वयं आह्लादकारिणी है, प्रसन्नता प्रदान करनेवाली है, अत: हमारे हृदयासन पर विराजमान होकर हमें भी अपने आनन्दरस से आनन्दित कर। अपने आनन्द से हमारे जीवनों को ओत-प्रोत कर दे। हम ज्ञान-प्राप्ति की रुचिवाले बनें, इसके लिए तू हमें सब प्रकार के रोगों से रहित अन्न प्रदान कर। सात्त्विक अन्नों के सेवन से हमारी बुद्धि सात्त्विक बनेगी और हम विद्या का अर्जन कर पाएँगे ॥ १५ ॥

सरस्वतीं यां पितरो हवन्ते दक्षिणा यज्ञमभिनक्षमाणाः। सहस्रार्घमिळो अत्र भागं रायस्पोषं यजमानेषु धेहि॥ १६ ॥

—ऋग्वेद १०।१७।९

अर्थ—जिस विद्या=ज्ञान की वे पितर लोग आराधना करते हैं जो कुशलतापूर्वक कर्म करते हैं

और सदा यज्ञात्मक श्रेष्ठ कर्म ही करते हैं, वह विद्या हमारे जीवन के लिए सहस्त्रों प्रकार से उपयोगी अन्न प्राप्त कराए और सरस्वती की आराधना करनेवाले यजमान में=यज्ञशील पुरुषों में प्रचुर धन की स्थापना करे अर्थात् उन्हें अन्न और धन प्रभूत मात्रा में प्राप्त हो। विद्या से जीवन के लिए उपयोगी अन्न और धन की प्राप्ति होती है। जो विद्या जीवन की आवश्यकताओं की पूर्त्ति न कर सके वह व्यर्थ ही है॥ १६ ॥

वैदिक-सञ्जीवनं सूक्तम्

ओ३म्। त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पुष्टिवर्धनम्। उर्वारुकमिव बन्धनान्मृत्योर्मुक्षीय मामृतात्॥ १ ॥ —यजुर्वेद अ० ३। मं० ६०

अर्थ—हम लोग भूत, वर्त्तमान और भविष्यत्—तीनों कालों में एकरस ज्ञानवाले; तीनों लोकों का ज्ञान रखनेवाले; ज्ञान-कर्म तथा उपासना का उपदेश करनेवाले; सब को सुप्रेरणा देनेवाले; शरीर, आत्मा और समाज के बल को बढ़ानेवाले जगदीश्वर की उपासना करते हैं। उसकी कृपा से हम पूर्णायु को प्राप्त करके मृत्यु के बन्धन से उसी प्रकार छूट जाएँ, जैसे पकने के पश्चात् स्वादिष्ट, सुमधुर और सुगन्धित होकर ख़रबूज़ा अपने लता-बन्धन से अपने-आप छूट जाता है। संसाररूपी वृक्ष से तो हम छूट जाएँ, परन्तु मोक्षरूपी अमृत-प्राप्ति की इच्छा से रहित हम कभी न हों। हमारे जीवनों में मोक्ष-प्राप्ति के लिए श्रद्धा और विश्वास सदा

विद्यमान रहे॥ १॥

सर्वो वै तत्र जीवति गौरश्वः पुरुषः पशुः।
यत्रेदं ब्रह्म क्रियते परिधिर्जीवनाय कम्॥ २॥

—अथर्व० ८।२।२५

अर्थ—जहाँ-जिस अवस्था में ब्रह्म=परमेश्वर और वेद को सुखी जीवन के लिए परिधि (प्राकार-चारदीवारी) बना लिया जाता है, उस अवस्था में गौ, अश्व, पुरुष और पशु—सब निश्चय ही जीवित रहते हैं। मैं परमेश्वर के द्वारा आच्छादित हूँ, मैं परमेश्वर के भीतर बैठा हुआ हूँ—ऐसा जानकर और जीवन को पवित्र तथा सात्त्विक बनाकर मनुष्य जीवनावधि (सौ वर्ष) से पूर्व नहीं मरता। वेदोपदिष्ट मार्ग पर चलने से भी व्यक्ति जीवनावधि से पूर्व नहीं मरता॥ २॥

तनूपाऽअग्नेसि तन्वं मे पाह्यायुर्दाऽ-अग्नेस्यायुर्मे देहि वर्चोदाऽअग्नेसि वर्चो मे देहि। अग्ने यन्मे तन्वाऽऊनं तन्मऽआपृण॥ ३॥

—यजु:० अ० ३। मं० १७

अर्थ—हे सर्वरक्षक जगदीश्वर! आप सब पदार्थों के शरीरों की रक्षा करनेवाले हो, अतः मेरे शरीर की भी रक्षा कीजिए। हे आयु-प्रदाता प्रभो! आप दीर्घ जीवन देनेवाले हो, अतः मुझे भी पूर्णायु और सुन्दर, आकर्षक, दिव्य जीवन प्रदान कीजिए। हे सर्वविद्यामय परमेश्वर! आप विज्ञान के देनेवाले हैं, अतः मुझे भी पूर्ण विद्या प्रदान कीजिए। हे कामनाओं के पूरक प्रभो! मेरे शरीर में बल, बुद्धि, शौर्य, ओज, तेज की जो भी न्यूनता है उस सब को आप सब दृष्टियों से पूर्ण कर दीजिए, जिससे मैं अपने जीवन को पूर्ण बनाकर आपका सच्चा उपासक बन सकूँ॥ ३॥

इन्धानास्त्वा शतꣳ हिमा द्युमन्तꣳ समिधीमहि। वयस्वन्तो वयस्कृतꣳ सहस्वन्तः सहस्कृतम्। अग्ने सपत्नदम्भनमदब्धासोऽ-अदाभ्यम्। चित्रावसो स्वस्ति ते पारमशीय॥ ४॥

—यजु:० ३। मं० १८

अर्थ—हे परमेश्वर! अनन्त प्रकाश तथा अनन्त गुणवाले आपको अपने हृदय-मन्दिर में प्रकाशित

करते हुए हम लोग सौ वर्ष तक शुद्ध, पवित्र, निर्मल जीवन से युक्त होकर प्रकाशित होते रहें तथा अपने साथ समाज, राष्ट्र और विश्व को भी चमकाते रहें। प्रभो! आप आयु प्रदाता हो, हमें भी दीर्घ जीवन प्रदान कीजिए। आप तेज, ज्ञान, बल और पराक्रम से सम्पन्न हैं; हमें भी तेज, ज्ञान और बल से सम्पन्न कीजिए। हे प्रकाशस्वरूप परमात्मन्! आप सपत्नों= काम-क्रोध-लोभादि शत्रुओं को नष्ट करनेवाले और अदब्ध=अनश्वर तथा अमृत हैं, हमें दम्भ, अहंकार एवं हिंसा से रहित कीजिए। विविध प्रकार के अद्भुत धन और अतुल तेज के भण्डार प्रभो! आप हमें कल्याण प्रदान कीजिए। हम वेद-निर्दिष्ट कल्याणकारी मार्ग पर चलें और त्रिविध दुःखों से छूटकर मोक्ष सुख को प्राप्त करें॥ ४॥

पुनर्मनः पुनरायुर्मऽआगन्पुनः प्राणः पुनरात्मा मऽआगन् पुनश्चक्षुः पुनः श्रोत्रं मऽआगन्। वैश्वानरोऽअदब्धस्तनूपाऽअग्निर्नः पातु दुरिता-दवद्यात्॥ ५॥ —यजुः० ४।१५

अर्थ—प्रातः जागने पर मुझे फिर विज्ञान-

साधक मन प्राप्त हो। मुझे क्रियामय दिव्य जीवन पुनः प्राप्त हो। मुझे फिर से शरीर को धारण करनेवाली प्राणशक्ति प्राप्त हो। मुझे सर्वान्तर्यामी परमात्मा की प्राप्ति हो अथवा आत्म-दर्शन=स्वरूप में स्थिति प्राप्त हो। मुझे रूप-ग्रहण करनेवाली दृष्टिशक्ति फिर प्राप्त हो, शब्द-ग्रहण करनेवाली श्रवणशक्ति मुझे फिर प्राप्त हो। मेरी समस्त इन्द्रियाँ ठीक कार्य करनेवाली बनें, इसके लिए आवश्यक है कि शरीर की रक्षा करनेवाली जठर अग्नि मन्द न होती हुई हमें दुर्गति, दुःख और पापों से बचाए। (जठर अग्नि के ठीक होने से शरीर में रोग नहीं आते और मन में खीज नहीं होती। परमात्मा भी वैश्वानर है। प्रभु की प्रेरणा और उसका स्मरण भी मनुष्य को दुरितों व पापों से बचाता है।) ॥ ५॥

ऋचं वाचं प्रपद्ये मनो यजुः प्रपद्ये साम प्राणं प्रपद्ये चक्षुः श्रोत्रं प्रपद्ये। वागोजः सहौजो मयि प्राणापानौ॥ ६॥ —यजुः० ३६।१

अर्थ—मैं वाणी का आश्रय करके ऋचाओं—ऋग्वेद की शरण में जाता हूँ अर्थात् ज्ञान प्राप्त करके मधुर और शान्तिदायक वाणी बोलता हूँ। इसके परिणामस्वरूप मुझे वाणी का बल प्राप्त होता है। मन का आश्रय करके मैं यजुर्वेद की शरण में जाता हूँ अर्थात् मन को यज्ञों-श्रेष्ठतम कर्मों में लगाता हूँ। मैं मन को स्वाध्याय में लगाता हूँ। मैं अपने जीवन का निरीक्षण करता हूँ। ऐसा करने से मुझे अपने पर गर्व नहीं होता और दूसरों के प्रति घृणा नहीं होती, अपितु परस्पर प्रेम बढ़कर एकता का बल बढ़ता है। मैं अपने प्राण का आश्रय करके सामवेद की शरण में जाता हूँ, अपने जीवन को उपासनामय बनाता हूँ। इसके फलस्वरूप मुझ में प्राणशक्ति का सञ्चार होता है। श्रोत्र=कान का आश्रय करके मैं चक्षु=ज्ञान अथवा ब्रह्मवेद=अथर्ववेद की शरण में जाता हूँ। मैं सदा ज्ञान-श्रवण में लगा रहता हूँ। इस ज्ञान-श्रवण से मेरा दृष्टिकोण ठीक रहता है। इसका

फल यह होता है कि मुझ में दोषों को दूर करने की शक्ति बनी रहती है॥६॥

प्राणश्च मेऽपानश्च मे व्यानश्च मेऽसुश्च मे चित्तं च मऽआधीतं च मे वाक्च मे मनश्च मे चक्षुश्च मे श्रोत्रं च मे दक्षश्च मे बलं च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्॥७॥ —यजुः० १८।२

अर्थ—मेरी प्राणशक्ति=हृदय और कण्ठदेश में स्थित वायु, मेरा अपान=नाभि से नीचे और नाभि में स्थित वायु (समानवायु), मेरा व्यान=शरीर की सब सन्धियों में व्याप्त वायु और धनञ्जय वायु, मेरा असु=नागवायु और कूर्म आदि अन्य सब वायु, मेरा चित्त=मेरी स्मृति और बुद्धि, मेरी निश्चयवृत्ति और उसका पालन, मेरी वाणी और उसका श्रवण=सुनना, मेरी सङ्कल्प-विकल्पात्मक वृत्ति और अहंकार, मेरे नेत्र और प्रत्यक्ष प्रमाण, मेरे कान और आगम=शास्त्रप्रमाण, मेरी चतुरता और प्रतिभा, मेरा बल और पराक्रम—ये सब धर्माचरण द्वारा सामर्थ्ययुक्त हों—ये सभी सबल, तेज और ओज से युक्त हों॥७॥

ओजश्च मे सहश्च मऽआत्मा च मे तनूश्च मे शर्म च मे वर्म च मेऽङ्गानि च मेऽस्थीनि च मे परूषि च मे शरीराणि च मऽआयुश्च मे जरा च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्॥ ८॥ —यजुः० १८।३

अर्थ—मेरा ओज=शरीर में स्थित बल और तेज, मेरा सह=शारीरिक और मानसबल, मेरा आत्मा=अपना स्वरूप और सामर्थ्य, मेरा शरीर और शरीर के सब अवयव, मेरा घर और घर के सब पदार्थ, मेरा रक्षक कवच और अन्य शस्त्र-अस्त्र, मेरे सभी अङ्ग और उपाङ्ग, मेरी हड्डियाँ और अन्य आन्तरिक अङ्ग, मेरे मर्मस्थल और जीवन के हेतु अन्य स्थल, मेरे सम्बन्धियों के शरीर और उनके शरीरों के सूक्ष्म अवयव, मेरा जीवन और जीवन के साधन, मेरी वृद्ध और जरावस्था—ये सब परमात्मा की कृपा और अनुग्रह से सामर्थ्य से युक्त हों अर्थात् शरीर के सभी अङ्ग-उपाङ्ग हृष्ट-पुष्ट, बलिष्ठ और जीवन के सभी साधनों से युक्त हों॥ ८॥

तेजोऽसि तेजो मयि धेहि वीर्यमसि वीर्यं मयि धेहि बलमसि बलं मयि धेह्योजोस्योजो मयि धेहि मन्युरसि मन्युं मयि धेहि सहोसि सहो मयि धेहि। ॥ ९॥

अर्थ—हे प्रभो! आप तेज:स्वरूप हैं, तेज के पुञ्ज हैं, अतः मेरे जीवन में भी तेज का आधान कीजिए। आप पराक्रमशाली हैं, मेरे जीवन में भी पराक्रम फूँक दीजिए। आप बलस्वरूप हैं, मुझे भी बल प्रदान कीजिए। आप ओजस्वी हैं, मुझे भी ओजस्वी बनाइए। आप मन्यु हैं—दुष्टों पर क्रोध करनेवाले हैं, मुझे भी दुष्टों पर क्रोध करने की शक्ति प्रदान कीजिए। आप सहनशील हैं, मुझमें भी सहनशक्ति की स्थापना कीजिए॥ ९॥

तत्त्वा यामि ब्रह्मणा वन्दमानस्तदा शास्ते यजमानो हविर्भिः। अहेळमानो वरुणेह बोध्युरुशꣳ स मा नऽआयुः प्रमोषीः॥ १०॥

—यजुः० १८।४९

अर्थ—हे बहुतों-से प्रशंसनीय! हमारी सब

बुराइयों को दूर करनेवाले और हमें श्रेष्ठ बनानेवाले परमेश्वर! मैं ज्ञानपूर्वक अथवा वेद के द्वारा आपका स्तवन करता हुआ आपसे यही याचना करता हूँ कि हमारे जीवन को व्यर्थ नष्ट मत होने दीजिए। हमारे आयु-तन्तु को बीच में ही मत काट दीजिए। हम अपनी पूर्ण आयु को प्राप्त करें। यज्ञशील उपासक भी आहुतियाँ प्रदान करता हुआ यही चाहता है कि हम पर क्रोध न करते हुए आप हमें इस जीवन में बोध प्रदान करें। आपकी कृपा से हमारा ज्ञान उत्तरोत्तर बढ़ता ही रहे॥ १० ॥

प्राणं मे पाह्यपानं मे पाहि व्यानं मे पाहि चक्षुर्मऽउर्व्या विभाहि श्रोत्रं मे श्लोकय। अपः पिन्वौषधीर्जिन्व द्विपादव चतुष्पात्पाहि दिवो वृष्टिमेरय॥ ११ ॥ —यजुः० १४।८

अर्थ—हे परमेश्वर! तू नाभि से ऊपर उठनेवाली मेरी प्राणशक्ति की रक्षा कर, नाभि से नीचे गति करनेवाले अपान की रक्षा कर जिससे मेरे शरीर के दोष दूर होकर शरीर निर्दोष बने। तू शरीर की विविध सन्धियों में गति करनेवाले व्यान की

रक्षा कर जिससे हमारा स्नायु-संस्थान नीरोग रहे। तू मेरी नेत्र-ज्योति को विशाल दृष्टिकोण से प्रकाशित कर जिससे मेरा दृष्टिकोण संकुचित न होकर विशाल हो। प्रभो! तू मेरे कानों को शास्त्र-वचन सुनने के लिए सन्नद्ध कर। मेरे प्राणों-प्राण आदि मुख्य प्राण और नाग आदि उपप्राणों को पुष्ट कर। ओषधियों को तृप्त-परिपुष्ट कर। दो पाँववाले मनुष्य और पक्षियों की रक्षा कर। चार पैरवाले प्राणियों—गौ आदि पशुओं की भी रक्षा कर। तू द्युलोक से वृष्टि को प्रेरित कर॥ ११ ॥

परं मृत्योऽअनुपरेहि पन्थां यस्तेऽअन्यऽइतरो देवयानात्। चक्षुष्मते शृण्वते ते ब्रवीमि मा नः प्रजाᳬरीरिषो मोत वीरान्॥ १२ ॥

अर्थ—हे मृत्यो! तू यहाँ से परे हट जा, दूर भाग। तू देवयान-देवपुरुषों के रास्ते से भिन्न भोगमार्ग को अपनानेवालों को ही अपना ग्रास बना। तुझ आँख और कानवाली को मैं ललकार कर कहता हूँ तू हमारी प्रजा को नष्ट मत कर और विद्या-ग्रहण किये हुए बल-वीर्यसम्पन्न वीरों को

भी मत मार ॥ १२ ॥

इमं जीवेभ्यः परिधिं दधामि मैषां नु गादपरोऽअर्थमेतम्। शतं जीवन्तु शरदः पुरूचीरन्तर्मृत्युं दधतां पर्वतेन ॥ १३ ॥

—यजुः० ३५। १५

अर्थ—मैं (परमेश्वर) जीवों के लिए मर्यादा निश्चित करता हूँ। इन जीवों के श्रमार्जित धन को दूसरा व्यक्ति प्राप्त न करे—प्रत्येक व्यक्ति अपने पुरुषार्थ से धन कमाये, दूसरे के धन का लालच न करे। ऐसा आचरण करते हुए सभी मनुष्य सौ वर्ष और उससे भी अधिक जीएँ और अकालमृत्यु को ज्ञान, तप, ब्रह्मचर्य और पुरुषार्थ से मार भगाएँ ॥ १३ ॥

भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः। स्थिरैरंगैस्तुष्टुवाꣳसस्तनूभिर्व्यशेमहि देवहितं यदायुः ॥ १४ ॥

—यजुर्वेद अ० २५। मं० २१

अर्थ—हे विद्वान्जनो! दिव्य जीवन की इच्छावाले हम लोग आपकी संगति से कानों से कल्याणकारी, सत्य वचन ही सुनें। हे संगति के योग्य यज्ञशीलजनो! पवित्र, यज्ञिय जीवनयुक्त बनने के अभिलाषी हम अपनी आँखों से कल्याणकारी दृश्यों को ही देखें, किसी को कुदृष्टि से न देखें। इस प्रकार सदाचारी बनकर हम लोग स्वस्थ, सुदृढ़, सबल, सुडौल अङ्गों और शरीरों से युक्त होकर ईश्वर की स्तुति, प्रार्थना और उपासना करते हुए देवहितकारी आयु को प्राप्त करें, अकालमृत्यु से न मरें ॥ १४ ॥

तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत्। पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतꣳ शृणुयाम शरदः शतं प्रब्रवाम शरदः शतमदीनाः स्याम शरदः शतं भूयश्च शरदः शतात् ॥ १५ ॥

—यजुः० ३६। २४

अर्थ—हे परमात्मन्! जो आप विद्वानों के हितकारी, शुद्धस्वरूप, सबके द्रष्टा और पूर्वकाल से सब-कुछ जानते हो, उस चेतन ब्रह्म आपको हम सौ शरद् ऋतु पर्यन्त देखें और उस आपकी कृपा से सौ वर्ष पर्यन्त प्राणों को धारण करें—जीएँ,

सौ वर्ष पर्यन्त शास्त्रों और मंगल वचनों को सुनें, सौ वर्ष तक वेदों को पढ़ाएँ और सत्य का उपदेश करें, सौ वर्ष पर्यन्त दीनता से रहित हों और सौ वर्ष से अधिक भी जीएँ, सुनें, देखें, उपदेश करें और अदीन रहें॥ १५ ॥

त्र्यायुषं जमदग्नेः कश्यपस्य त्र्यायुषम्।
यद्देवेषु त्र्यायुषं तन्नोऽअस्तु त्र्यायुषम्॥ १६ ॥

—यजुः० ३।६२

अर्थ—हे जगदीश्वर! जमदग्नेः=प्रदीप्त जाठर अग्निवाले नीरोग एवं स्वस्थ मनुष्य की जो बाल्य, यौवन और वार्धक्य से युक्त सुख देनेवाली तीन गुणी आयु है, कश्यपस्य=तत्त्वज्ञानी की विद्या, शिक्षा और परोपकार—इन तीन गुणों से युक्त जो आयु है और देवेषु=विद्वानों में ब्रह्मचर्य, गृहस्थ और वानप्रस्थ—इन तीन गुणों से युक्त जो सुखप्रद आयु है, वैसी ही और उतनी ही पूर्वोक्त तीनों गुणोंवाली तीन सौ अथवा चार सौ वर्ष की आयु हमें प्राप्त हो॥ १६ ॥

वैदिक-वाणिज्यसूक्तम्

ओ३म्। इन्द्रमहं वणिजं चोदयामि स न ऐतु पुरएता नो अस्तु। नुदन्नरातिं परिपन्थिनं मृगं स ईशानो धनदा अस्तु मह्यम्॥ १ ॥

अर्थ—मैं (उपासक, राष्ट्र की प्रजा) सबसे बड़े व्यापारी परमैश्वर्यशाली परमेश्वर अथवा सौदागर सम्राट् से निवेदन करता हूँ कि वह व्यापार में हमारे पास आये—हमारे अनुकूल हो और हमारे आगे चलनेवाला हमारा पथ-प्रदर्शक हो। वह हमें व्यापार के गुण सिखाये। वह हमारा स्वामी व्यापार के विघातक शत्रुओं को, मार्ग रोककर बैठनेवाले चोर-डाकुओं को और व्याघ्र आदि हिंसक पशुओं को हटाता हुआ मुझे धन प्रदान करे॥ १ ॥

ये पन्थानो बहवो देवयाना अन्तरा द्यावापृथिवी संचरन्ति। ते मा जुषन्तां पयसा घृतेन यथा क्रीत्वा धनमाहराणि॥ २ ॥

अर्थ—द्युलोक और पृथिवीलोक में व्यापारियों

के आने-जाने के लिए जो बहुत-से मार्ग हैं, वे सब मार्ग जीवन-यात्रा के लिए आवश्यक घी-दूध आदि सब पदार्थों से मेरी सेवा करनेवाले हों, अर्थात् व्यापार के मार्गों में खान-पान की सुव्यवस्था हो जिससे मैं क्रय-विक्रय करके लाभसहित मूलधन को अपने घर ला सकूँ॥ २॥

इध्मेनाग्न इच्छमानो घृतेन जुहोमि हव्यं तरसे बलाय। यावदीशे ब्रह्मणा वन्दमान इमां धियं शतसेयाय देवीम्॥ ३॥

अर्थ—हे प्रकाशस्वरूप परमात्मन्! राजन्! वाणिज्य-लाभ की कामना करता हुआ तेरी संरक्षता में रहता हुआ मैं वाणिज्य में तीव्रता और दक्षता लाने के लिए ज्ञानरूपी समिधाओं और स्नेहरूपी घृत से व्यापाररूपी यज्ञकुण्ड में धनरूपी हवि की आहुति देता हूँ। व्यापार को चमकाने के लिए उसमें ज्ञान, स्नेह और नई-नई पूँजी की आहुतियाँ देता हूँ। जितना-जितना मैं ईश और धन-सम्पन्न बनता हूँ,

उतना-उतना ही वेदमन्त्रों द्वारा आपका गुणगान करता हुआ अपनी व्यवहारकुशल बुद्धि को अपरिमित धन-लाभ की प्राप्ति में लगाता हूँ॥ ३॥

इमामग्ने शरणिं मीमृषो नो यमध्वानमगाम दूरम्। शुनं नो अस्तु प्रपणो विक्रयश्च प्रतिपणः फलिनं मा कृणोतु। इदं हव्यं संविदानौ जुषेथां शुनं नो अस्तु चरितमुत्थितं च॥ ४॥

अर्थ—हे परमात्मन्! व्यापार करने के लिए हम जिस दूर मार्ग में चले जाते हैं, उसमें सुविधा न होने के कारण अथवा आलस्य-प्रमाद से अग्निहोत्रादि व्रतलोपरूपी हिंसा=त्रुटि को आप कुचल डालिए—दूर कर दीजिए, अर्थात् मार्ग में रहते हुए भी हम सन्ध्या-वन्दन और अग्निहोत्र का त्याग न करें, कष्ट सहकर भी, असुविधा होने पर भी शुभ कर्मों का लोप न होने दें। आपकी कृपा से हमारा क्रय-विक्रय=खरीदना और बेचना सुखप्रद हो। वस्तुओं का लौट-फेर, देशान्तर से लाकर

अपने देश में बेची जानेवाली वस्तुएँ मुझे लाभयुक्त करें। मिलकर रहनेवाले हम व्यापारी और ग्राहक हव्यम्=बेची और खरीदी जानेवाली वस्तुओं का प्रीतिपूर्वक मिलकर सेवन करें। सब व्यापार-व्यवहार और उससे लाभ में प्राप्त हुआ धन हमारे लिए सुखदायक हो॥४॥

येन धनेन प्रपणं चरामि धनेन देवा धनमिच्छमानः। तन्मे भूयो भवतु मा कनीयोऽग्ने सातघ्नो देवान्हविषा नि षेध॥५॥

अर्थ—हे सब व्यवहारों के साधक देवो! मूलधन से वृद्धियुक्त धन की कामना करता हुआ जिस धन से बेचने के लिए वस्तुओं को खरीदता हूँ मेरा वह धन निरन्तर बढ़ता ही जाए, घटे नहीं, कम न हो अर्थात् पूँजी बढ़ती जाए। हे अग्ने=व्यापारों में प्रगति प्राप्त करानेवाले प्रभो! मेरे लाभ में हानि पहुँचानेवालों—मूर्खों, मादक द्रव्यों का सेवन करनेवालों, जुआ, सट्टे आदि में धन को नष्ट

करनेवालों को उचित उपायों से रोक दे, उन्हें हमसे दूर कर दे॥५॥

येन धनेन प्रपणं चरामि धनेन देवा धनमिच्छमानः। तस्मिन्म इन्द्रो रुचिमा दधातु प्रजापतिः सविता सोमो अग्निः॥६॥

अर्थ—हे व्यवहारसाधक देवो! मूलधन से वृद्धियुक्त धन को चाहता हुआ जिस धन से मैं व्यापार करता हूँ उस व्यापार में प्रजापति=प्रजापालक, सविता=सर्वप्रेरक, सोम=चन्द्रमा के समान शान्त और आह्लादक, अग्नि=अग्नि के समान तेजस्वी, इन्द्र=परमैश्वर्यशाली परमात्मा मुझे रुचिवाला बनाये अर्थात् परमात्मा की कृपा से मैं अपने व्यापार को रुचिपूर्वक करूँ अथवा इन्द्र=जितेन्द्रियता की भावना, प्रजापति=प्रजा के पालन और रक्षण की भावना, सविता=निर्माण की भावना, सोम=सौम्यता की भावना और अग्नि=प्रगति की [illegible] ये सब मुझे व्यापार में रुचिकर

बनाएँ॥ ६ ॥

उप त्वा नमसा वयं होतर्वैश्वानर स्तुमः। स नः प्रजास्वात्मसु गोषु प्राणेषु जागृहि॥ ७॥

अर्थ—हे सब पदार्थों के दाता! सब मनुष्यों का हित करनेवाले प्रभो! आपको प्राप्त होकर हम नमन के साथ आपकी स्तुति करते हैं—प्रातःसायं श्रद्धापूर्वक आपकी उपासना करते हैं। आप हमारी प्रजाओं के विषय में, हमारे विषय में, हमारे गौ आदि पशुओं और इन्द्रियों तथा प्राणों के विषय में सदा जागरित रहिए। इनकी रक्षा करते रहिए॥ ७॥

विश्वाहा ते सदमिद् भरेमाश्वायेव तिष्ठते जातवेदः। रायस्पोषेण समिषा मदन्तो मा ते अग्ने प्रतिवेशा रिषाम्॥ ८॥

—अथर्ववेद काण्ड ३। सूक्त १५। मन्त्र १-८

अर्थ—हे सर्वज्ञ व सर्वव्यापक और प्रशस्त धन-सम्पन्न प्रभो! जैसे थान पर खड़े हुए घोड़े को घास-दाना आदि दिया जाता है, उसी प्रकार तेरे

उद्देश्य से तेरी प्रजा के लिए हम सदा अन्न-वस्त्र, ओषधि, विद्या तथा धनादि का दान करते रहें। इसके फलस्वरूप हे परमात्मन्! हम धनों और पुष्टिकारक पदार्थों से तथा नाना प्रकार के अन्नों से खूब हर्ष मनाते हुए तेरे पड़ोसी बनकर—तेरे समीपतम रहकर कभी हिंसित न हों, दुःखी और क्लेशित न हों॥ ८॥

अभि नो नर्यं वसु वीरं प्रयतदक्षिणम्।
वामं गृहपतिं नय॥ ९॥

—ऋग्वेद, मण्डल ६। सूक्त ५३। मं० २

अर्थ—हे सबका पोषण करनेवाले प्रभो! आप हमें वह धन प्राप्त कराइए जो (क) नर-हितकारी हो, (ख) वीरम्=शत्रुओं को कम्पित करके उन्हें दूर भगानेवाला हो, (ग) प्रयतदक्षिणम्=पवित्र दानवाला हो—जिस धन में से दान का अंश निकाला जाता हो, (घ) वामम्=सुन्दर हो, उत्तम गुणों को जन्म देनेवाला हो अथवा उत्तम साधनों

से कमाया गया हो और (ङ) सब आवश्यकताओं की पूर्त्ति करके घर का रक्षण करनेवाला हो ॥ ९ ॥

अदित्सन्तं चिदाघृणे पूषन्दानाय चोदय।
पणेश्चिद्वि म्रदा मनः ॥ १० ॥

—ऋ० ६।५३।३

अर्थ—सर्वतो दीप्तिमन्! पोषक प्रभो! आप दान न देनेवाले को भी दान देने के लिए प्रेरित कीजिए। धन-लोलुप वणिक् के समान कृपण वृत्तिवाले, कंजूस मनुष्य के मन को भी मृदु बनाइए, वह भी दीन-दुखियों को देखकर दान की वृत्तिवाला बने ॥ १० ॥

सं पूषन्विदुषा नय योऽअञ्जसानुशासति।
यऽएवेदमिति ब्रवत् ॥ ११ ॥

—ऋ० ६।५४।१

अर्थ—हे सबका पोषण करनेवाले प्रभो! आप हमें उस ज्ञानी पुरुष के साथ संगत कीजिए जो हमें सरलतापूर्वक यथावत् सत्य-सत्य उपदेश

करे। हमारा उस विद्वान् के साथ मेल कराइए जो—'ऐसा ही है',—'यही न्याय है' इस प्रकार निश्चय करके यथार्थ ही कहता है, जिसके कथन में सन्देह नहीं है ॥ ११ ॥

समु पूष्णा गमेमहि यो गृहाँऽअभिशासति।
इमऽएवेति च ब्रवत् ॥ १२ ॥

—ऋ० ६।५४।२

अर्थ—परमपिता परमात्मा के अनुग्रह से हम ऐसे विद्वान् के साथ अवश्य ही संगत हों जो कि गृहस्थ के कर्त्तव्यों के विषय में सदुपदेश करे और उस विद्वान् का सत्संग करें जो—'ये ही तुम्हारे कर्म हैं। तुम्हारे जीवन के नियम हैं'—ऐसा उपदेश करे ॥ १२ ॥

पूष्णश्चक्रं न रिष्यति न कोशोऽव पद्यते।
नोऽअस्य व्यथते पविः ॥ १३ ॥

—ऋ० ६।५४।३

अर्थ—पोषक प्रभु द्वारा प्रदत्त चक्रम्=इन्द्रिय,

मन व बुद्धिरूपी आयुध विद्वानों द्वारा उपदिष्ट मार्ग पर चलते हुए हिंसित नहीं होते और इन आयुधों का शरीररूपी कोश भी क्षीण नहीं होता—हृष्ट-पुष्ट बना रहता है। बुद्धिरूपी आयुध की धारा भी कुण्ठित नहीं होती। (स्वस्थ शरीर, इन्द्रिय, मन तथा तीव्र बुद्धि से ही हम अपने नष्ट धन को पुनः प्राप्त करने में समर्थ बनते हैं)।

अथवा—जिस पोषक व्यापारी के लेन-देन का चक्र दोषयुक्त नहीं होता उसके कोश की हानि न होकर वह सब प्रकार से भरा रहता है। उसके व्यापार की नीति विरोधी जनों में भी प्रशंसनीय तथा फलदायी होती है॥ १३॥

शृण्वन्तं पूषणं वयमिर्यमनष्टवेदसम्।
ईशानं रायऽईमहे॥ १४॥ —ऋ० ६।५४।८

अर्थ—हम लोग हमारी प्रार्थनाओं को सुननेवाले, सबका पोषण करनेवाले उस प्रभु से व्यापार के लिए धन=पूँजी की याचना करते हैं। हम

उस प्रभु से धन की याचना करते हैं जो दारिद्र्य को नष्ट करनेवाले, अनष्ट धनवाले—प्रचुर धनवाले और नाना प्रकार के धनों के स्वामी हैं॥ १४॥

पूषन्तव व्रते वयं न रिष्येम कदा चन।
स्तोतारस्तऽइह स्मसि॥ १५॥

—ऋ० ६।५४।९

अर्थ—हे सबका पोषण करनेवाले प्रभो! आपकी प्राप्ति के साधनभूत 'जप, तप, स्वाध्याय, ध्यान' आदि कर्मों में लगे हुए हम कभी भी वासनाओं, खोटे विचारों और आचारों से पीड़ित न हों। हम सदा सत्य व्यवहार और सत्य आचरण ही करें। हे प्रभो! इस जीवन में हम आपका ही स्तवन करनेवाले हों। आपका गुणगान करते हुए हम आप जैसे ही दयालु, न्यायकारी, सत्यवादी व धर्मशील बनें। (सदा प्रभु-उपासना करते हुए ईमानदारी, न्याय, परिश्रम और पुरुषार्थ से ही धन कमाएँ [illegible] ॥

परि पूषा परस्ताद्धस्तं दधातु दक्षिणम्।
पुनर्नो नष्टमाजतु ॥ १६ ॥ —ऋ० ६।५४।१०

अर्थ—धनादि ऐश्वर्यों से समृद्ध, सबका पोषण करनेवाला परमात्मा व्यापार के लिए सुदूर देश में गये हुए व्यापारियों पर सदा अपना वरद हस्त रक्खे और उसके अनुग्रह से हमारा व्यापार आदि में नष्ट हुआ धन, हमारा गौरव, वैभव और ऐश्वर्य हमें पुनः प्राप्त हो ॥ १६ ॥

ओ३म्

पातञ्जल योगदर्शनम् ॥

योगेन चित्तस्य पदेन वाचां मलं शरीरस्य च वैद्यकेन। योऽपाकरोत्तं प्रवरं मुनीनां पतञ्जलिं प्राञ्जलिरानतोऽस्मि ॥

अथ समाधिपादः

अथ योगानुशासनम् ॥ १ ॥

अब योग की शिक्षा देनेवाले ग्रन्थ को आरम्भ करते हैं।

योगश्चित्तवृत्ति निरोधः ॥ २ ॥

चित्त की वृत्तियों को रोकना योग है।

तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम् ॥ ३ ॥

तब (चित्त की वृत्तियों के रुक जाने पर) द्रष्टा की (शुद्ध परमात्म) स्वरूप में अवस्थिति होती है।

वृत्तिसारूप्यमितरत्र ॥ ४ ॥

दूसरी अर्थात् निरोध से भिन्न व्युत्थान अवस्था में द्रष्टा की वृत्तियों की समानरूपता होती है अर्थात् द्रष्टा वृत्तियों के समानरूपवाला प्रतीत होता है।

वृत्तयः पंचतय्यः क्लिष्टाऽक्लिष्टाः ॥ ५ ॥

वृत्तियाँ पाँच प्रकार की होती हैं, क्लिष्ट अर्थात् राग-द्वेषादि क्लेशों की हेतु और अक्लिष्ट अर्थात् राग-द्वेषादि क्लेशों का नाश करनेवाली।

प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रास्मृतयः ॥ ६ ॥

प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा, स्मृति; ये पाँच प्रकार की वृत्तियाँ हैं (जिनका लक्षण अगले सूत्र में बतलायेंगे)।

प्रत्यक्षानुमानागमाः प्रमाणानि ॥ ७ ॥

प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम भेद से तीन प्रकार की प्रमाणवृत्ति हैं।

विपर्ययो मिथ्याज्ञानमतद्रूपप्रतिष्ठम् ॥ ८ ॥

विपर्यय मिथ्याज्ञान है जो उस पदार्थ के रूप में प्रतिष्ठित नहीं है।

शब्दज्ञानाऽनुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः ॥ ९ ॥

शब्द से उत्पन्न जो ज्ञान, उसके पीछे चलने का जिसका स्वभाव हो और जो वस्तु की सत्ता की अपेक्षा न रखता हो इस प्रकार का ज्ञान विकल्प कहलाता है।

अभावप्रत्ययाऽऽलम्बना वृत्तिर्निद्रा ॥ १० ॥

(जागृत तथा स्वप्नावस्था की वृत्तियों के) अभाव की प्रतीति को आश्रय करनेवाली वृत्ति निद्रा है।

अनुभूतविषयाऽसंप्रमोषः स्मृतिः ॥ ११ ॥

अनुभव किये हुए (किसी) विषय का (फिर चित्त में) आरोहपूर्वक उससे अधिक नहीं, किन्तु तन्मात्र-विषयक ज्ञान होना स्मृति है।

अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः ॥ १२ ॥

अभ्यास और वैराग्य से उन वृत्तियों का निरोध होता है।

तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः ॥ १३ ॥

उन (दोनों अभ्यास और वैराग्य) में से चित्त की स्थिति के विषय में यत्न करना अभ्यास है।

स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढभूमिः ॥ १४ ॥

किन्तु वह (पूर्वोक्त अभ्यास) दीर्घकालपर्य्यन्त निरन्तर व्यवधानरहित ठीक-ठाक श्रद्धा, दीर्घ भक्तिपूर्वक अनुष्ठान किया हुआ दृढ़ अवस्थावाला हो जाता है।

दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम् ॥ १५ ॥

दृष्ट और आनुश्रविक विषयों में जिसकी तृष्णा नहीं रही है उसका वैराग्य वशीकार नामवाला अर्थात् अपर वैराग्य है।

तत्परं पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यम् ॥ १६ ॥

विवेक ख्याति द्वारा गुणों से तृष्णा-रहित हो जाना परवैराग्य है।

वितर्कविचाराऽनन्दाऽस्मितारूपाऽनुगमात् सम्प्रज्ञातः ॥ १७ ॥

वितर्क, विचार, आनन्द और अस्मिता नामक स्वरूपों के सम्बन्ध से जो चित्त की वृत्तियों का निरोध है वह सम्प्रज्ञात समाधि कहलाता है अर्थात् वितर्क के सम्बन्ध से जो समाधि होती है उसका नाम वितर्कानुगत, विचार के सम्बन्ध से विचारानुगत आनन्द के सम्बन्ध से आनन्दानुगत और अस्मिता के सम्बन्ध से होनेवाली समाधि का नाम अस्मितानुगत सम्प्रज्ञात समाधि है।

विरामप्रत्ययाभ्यासपूर्वः संस्कारशेषोऽन्यः ॥ १८ ॥

सर्ववृत्तियों के निरोध का कारण जो परवैराग्य है उसके पुनः पुनः अनुष्ठानरूप अभ्यास से जो उसके संस्कार शेष रह जाते हैं वह असम्प्रज्ञात समाधि है।

भवप्रत्ययो विदेहप्रकृतिलयानाम् ॥ १९ ॥

विदेह और प्रकृतिलयों को भव-प्रत्यय नामक असम्प्रज्ञात समाधि की सिद्धि प्राप्त होती है।

श्रद्धावीर्यस्मृतिसमाधिप्रज्ञापूर्वक इतरेषाम् ॥ २० ॥

दूसरे योगी जो विदेह और प्रकृतिलय नहीं हैं उनको श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि और प्रज्ञापूर्वक 'उपाय प्रत्यय' नामक असम्प्रज्ञात समाधि प्राप्त होती है।

तीव्रसंवेगानामासन्नः ॥ २१ ॥

तीव्र सम्वेग अधिमात्र उपायवाले योगियों को समाधि लाभ शीघ्रतम होता है।

मृदुमध्याधिमात्रत्वात्ततोऽपि विशेषः ॥ २२ ॥

मृदु, मध्य, अधिमात्र ये तीन भेद होने से मृदु तीव्र सम्वेगवालों और मध्य तीव्र सम्वेगवालों के समाधि लाभ से अधिमात्र तीव्र सम्वेगवालों को समाधि लाभ में विशेषता है।

ईश्वर प्रणिधानाद्वा ॥ २३ ॥

अथवा ईश्वर प्रणिधान से शीघ्रतम समाधि लाभ होता है।

क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः ॥ २४ ॥

क्लेश, कर्म, कर्मों के फल और वासनाओं से असम्बद्ध, अन्य पुरुषों से विशेष (विभिन्न उत्कृष्ट) चेतन ईश्वर है।

तत्र निरतिशयं सर्वज्ञ बीजम् ॥ २५ ॥

उस पूर्वोक्त ईश्वर में सर्वज्ञता का बीज अतिशय (बढ़ती) रहित है।

स एष पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात् ॥ २६ ॥

वह ईश्वर पूर्व उत्पन्न हुए ब्रह्मादिकों का भी गुरु है क्योंकि वह काल से परिच्छिन्न (परिमित) नहीं है।

तस्य वाचकः प्रणवः ॥ २७ ॥

उस ईश्वर का बोधक शब्द ओ३म् है।

तज्जपस्तदर्थभावनम् ॥ २८ ॥

उस ओ३म् शब्द का जप और उसके अर्थभूत ईश्वर का ध्यान करना (पुनः पुनः चिन्तन करना)

ईश्वर प्रणिधान है।

ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तराया-भावश्च॥ २९॥

उस ईश्वर प्रणिधान से प्रत्यक्‌चेतना का ज्ञान (जीवात्मा का साक्षात्कार) भी होता है और अन्तरायों (विघ्नों) का अभाव होता है।

व्याधिस्त्यानसंशयप्रमादालस्याऽविरति-भ्रान्तिदर्शनाऽलब्धभूमिकत्वाऽनवस्थितत्वानि चित्त विक्षेपास्तेऽन्तरायाः॥ ३०॥

व्याधि, स्त्यान, संशय, प्रमाद, आलस्य, अविरति, भ्रान्ति-दर्शन, अलब्ध-भूमिकत्व, अन-वस्थितत्व, ये चित्त के नौ विक्षेप (योग के) विघ्न हैं।

दुःखदौर्मनस्याङ्गमेजयत्वश्वासप्रश्वासाः विक्षेपसहभुवः॥ ३१॥

दुःख, दौर्मनस्य, अङ्गमेजयत्व, श्वास-प्रश्वास, ये विक्षेपों के साथ होनेवाले हैं अर्थात् उनके होने से यह पाँच प्रतिबन्धक भी उपस्थित हो जाते हैं।

तत्प्रतिषेधार्थमेकतत्त्वाभ्यासः॥ ३२॥

उन पूर्वोक्त विक्षेपों तथा उपविक्षेपों को दूर करने के लिए एक तत्त्व का अभ्यास करना चाहिए।

मैत्री करुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःख-पुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्त-प्रसादनम्॥ ३३॥

सुखी, दुःखी, पुण्यात्मा और पापियों के विषय में (यथाक्रम) मित्रता, दया, हर्ष और उपेक्षा की भावना के अनुष्ठान से चित्त प्रसन्न और निर्मल होता है।

प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य॥ ३४॥

अथवा कोष्ठस्थित (कोठा=उदर में रहनेवाली) वायु को नासिकापुट द्वारा (प्रयत्न विशेष) से बाहर फेंकने और बाहर रोकने दोनों से मन की स्थिति को सम्पादन करे।

विषयवती वा प्रवृत्तिरुत्पन्ना मनसः स्थितिनिबन्धनी॥ ३५॥

अथवा (गंध, रस, रूप, स्पर्श, शब्द) विषयोंवाली प्रवृत्ति उत्पन्न हुई मन की स्थिति को बाँधनेवाली होती है।

विशोका वा ज्योतिष्मती॥ ३६॥

अथवा शोकरहित प्रकाशवाली प्रवृत्ति उत्पन्न हुई मन की स्थिति को बाँधनेवाली होती है।

वीतरागविषयं वा चित्तम्॥ ३७॥

अथवा राग-रहित योगीगण के चित्तविषयक संयम करनेवाला (आलम्बन करनेवाला) चित्त मन की स्थिति को बाँधनेवाला होता है।

स्वप्ननिद्राज्ञानालम्बनं वा॥ ३८॥

अथवा स्वप्नज्ञान और निद्राज्ञान को आश्रय करनेवाला चित्त मन की स्थिति को बाँधनेवाला होता है।

यथाभिमतध्यानाद्वा ॥ ३९॥

अथवा (शास्त्रीय मर्यादानुसार) जो जिसको अभिमत (इष्ट) हो, उसके ध्यान से मन की स्थिति

बंध जाती है।

परमाणुपरममहत्त्वान्तोऽस्य वशीकारः॥ ४०॥

पूर्वोक्त उपायों से स्थित हुए चित्त का सूक्ष्म पदार्थों में परमाणु पर्यन्त और महान् पदार्थों में परम-महान् (आकाश) पर्यन्त वशीकार हो जाता है।

क्षीणवृत्तेरभिजातस्येव मणेर्ग्रहीतृग्रहण-ग्राह्येषु तत्स्थतदञ्जनता समापत्तिः॥ ४१॥

राजस तामस वृत्तिरहित स्वच्छ चित्त की उत्तम जातीय (अतिनिर्मल) मणि के समान ग्रहीता (अस्मिता, ग्रहण (इन्द्रियों), ग्राह्य (स्थूल तथा सूक्ष्म विषयों) में स्थित होकर उनमें तन्मय हो जाना (उनके स्वरूप को प्राप्त हो जाना) समापत्ति (तद्रूप होना) है।

तत्र शब्दार्थज्ञानविकल्पैः सङ्कीर्णा सवितर्का समापत्तिः॥ ४२॥

,उन समापत्तियों में से शब्द, अर्थ और ज्ञान के विकल्पों (भेदों) से मिली हुई (अर्थात् इन तीनों

भिन्न पदार्थों का अभेद रूप से जिसमें भान होता है) सवितर्क समापत्ति है।

स्मृतिपरिशुद्धौ स्वरूपशून्येवार्थमात्रनिर्भासा निर्वितर्का ॥ ४३ ॥

स्मृति के शुद्ध हो जाने पर (अर्थात् आगम अनुमान के कारण भूत शब्द के संकेत-स्मरण के निवृत्त होने से) अर्थमात्र से भासनेवाली अपने (ग्रहणाकार ज्ञानात्मक) रूप से रहित (चित्तवृत्ति) निर्वितर्क समापत्ति है।

एतयैव सविचारा निर्विचारा च सूक्ष्मविषया व्याख्याता ॥ ४४ ॥

इस सवितर्क और निर्वितर्क समापत्ति के निरूपण से ही सविचार और निर्विचार समापत्तियाँ सूक्ष्मविषय में व्याख्यान की हुई समझनी चाहिएँ।

सूक्ष्मविषयत्वं चालिङ्गपर्यवसानम् ॥ ४५ ॥

सूक्ष्म विषयता आलिङ्ग (प्रकृति) पर्यन्त है।

ता एव सबीजः समाधिः ॥ ४६ ॥

ये पूर्वोक्त चारों समापत्तियाँ ही सबीज समाधि कहलाती हैं।

निर्विचारवैशारद्येऽध्यात्मप्रसादः ॥ ४७ ॥

निर्विचार समाधि की वैशारद्य (प्रवीणता) होने पर अध्यात्म (प्रज्ञा) की निर्मलता होती है।

ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा ॥ ४८ ॥

अध्यात्म प्रसाद के लाभ होने पर जो प्रज्ञा (बुद्धि) उत्पन्न होती है उसका नाम ऋतम्भरा प्रज्ञा (सच्चाई को धारण करनेवाली अविद्यादि से रहित बुद्धि) है।

श्रुतानुमानप्रज्ञाभ्यामन्यविषया विशेषार्थत्वात् ॥ ४९ ॥

आगम और अनुमान की प्रज्ञा से ऋतम्भरा प्रज्ञा का विषय अलग है, विशेष रूप से अर्थ का साक्षात्कार कराने से।

तज्जः संस्कारोऽन्यसंस्कारप्रतिबन्धी ॥ ५० ॥

उस ऋतम्भरा प्रज्ञा से उत्पन्न होनेवाला संस्कार

अन्य सब व्युत्थान के संस्कारों का बाधक (रोकनेवाला) होता है।

तस्यापि निरोधे सर्वनिरोधान्निर्बीज-समाधिः ॥ ५१ ॥

(परवैराग्य द्वारा) उस ऋतम्भरा प्रज्ञाजन्य संस्कार के भी निरोध हो जाने पर (पुरातन नूतन) सब संस्कारों के निरोध हो जाने से निर्बीज समाधि होती है।

इति पातञ्जलयोगशास्त्रे
समाधिनिर्देशो नाम प्रथमो पादः ॥

अथ साधन पाद

तपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रिया-योगः ॥ १ ॥

तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान क्रिया योग है।

समाधिभावनार्थः क्लेशतनूकरणार्थश्च ॥ २ ॥

समाधि की भावना के लिए और क्लेशों को तनू करने के लिए क्रियायोग है।

अविद्याऽस्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः पञ्च क्लेशाः ॥ ३ ॥

अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश ये पाँच क्लेश हैं। (ये पाँचों बन्धन-रूप पीड़ा को उत्पन्न करते हैं और चित्त में वर्तमान रहते हुए संस्कार रूप गुणों के परिणाम को दृढ़ करते हैं, इसीलिए क्लेश नाम से कहे गये हैं, यह पाँचों विपर्यय अर्थात् मिथ्या ज्ञान ही हैं, क्योंकि उन सब

का कारण अविद्या ही है)।

अविद्याक्षेत्रमुत्तरेषां प्रसुप्ततनुविच्छिन्नोदाराणाम् ॥ ४ ॥

प्रसुप्त, तनु, विच्छिन्न और उदार अवस्थावाले अस्मिता आदि क्लेश का अविद्या क्षेत्र है।

अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या ॥ ५ ॥

अनित्य में नित्य, अपवित्र में पवित्र, दुःख में सुख और अनात्मा में आत्मा का ज्ञान अविद्या है।

दृग्दर्शनशक्त्योरेकात्मतेवास्मिता ॥ ६ ॥

द्रष्ट्र शक्ति और दर्शनशक्ति का एक स्वरूप जैसा भान होना अस्मिता (क्लेश) है।

सुखानुशयी रागः ॥ ७ ॥

सुख-भोग के पीछे, चित्त में उसके भोग की जो इच्छा रहती है वह राग है।

दुःखानुशयी द्वेषः ॥ ८ ॥

दुःख के अनुभव के पीछे जो घृणा की वासना

चित्त में रहती है उसको द्वेष कहते हैं।

स्वरसवाही विदुषोऽपि तथारूढोऽभिनिवेशः ॥ ९ ॥

(जो मरने का भय हर एक प्राणी में) स्वभावतः बह रहा है और विद्वानों के लिए भी ऐसा ही प्रसिद्ध है (जैसा कि मूर्खों के लिए) वह अभिनिवेश क्लेश है।

ते प्रतिप्रसवहेयाः सूक्ष्मा ॥ १० ॥

वे पूर्वोक्त पाँच क्लेश जो क्रिया-योग से सूक्ष्म और प्रसंख्यान अग्नि से दग्धबीजरूप हो गये हैं, असम्प्रज्ञात समाधि द्वारा चित्त के अपने कारण में लीन होने से निवृत्त करने योग्य हैं।

ध्यानहेयास्तद्वृत्तयः ॥ ११ ॥

क्लेशों की स्थूल वृत्तियाँ जो क्रियायोग से तनु कर दी गई हैं, प्रसंख्यान (विवेक ख्याति) संज्ञक ध्यान से त्यागने योग्य हैं (जब तक कि वे सूक्ष्म होकर दग्ध-बीज के सदृश न हो जावें।

क्लेशमूलः कर्माशयो दृष्टाऽदृष्ट-जन्मवेदनीयः॥ १२॥

क्लेश जिसकी जड़ है ऐसे कर्मों की वासना वर्त्तमान और अगले जन्मों में भोगने योग्य है।

सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः॥ १३॥

अविद्या आदि क्लेशों की जड़ के होते हुए उस (कर्माशय) का फल जाति, आयु और भोग होता है।

ते ह्लादपरितापफलाः पुण्यापुण्य-हेतुत्वात्॥ १४॥

वे (जन्म आयु और भोग) सुख-दुःख फल देनेवाले हैं क्योंकि उनके कारण पुण्य और पाप हैं।

परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्ति-विरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः॥ १५॥

क्योंकि (विषय सुख के भोग काल में भी) परिणाम-दुःख, ताप-दुःख और संस्कार-दुःख बना रहता है और गुणों के स्वभाव में भी विरोध

है इसीलिए विवेकी पुरुष के लिए सब कुछ (सुख भी जो विषय-जन्य है) दुःख ही है।

हेयं दुखमनागतम्॥ १६॥

आनेवाले दुःख हेय (त्यागने योग्य) हैं।

द्रष्टृदृश्ययोः संयोगो हेयहेतुः॥ १७॥

द्रष्टा और दृश्य का संयोग ''हेय हेतु'' (दुःख का कारण) है।

प्रकाशक्रियास्थितिशीलं भूतेन्द्रियात्मकं भोगापवर्गार्थं दृश्यम्॥ १८॥

प्रकाश, क्रिया और स्थिति जिसका स्वभाव है भूत और इन्द्रिय जिसका स्वरूप है, भोग और अपवर्ग जिसका प्रयोजन है वह दृश्य है।

विशेषाऽविशेषलिङ्गमात्रालिङ्गानि गुण-पर्वाणि॥ १९॥

गुणों की चार अवस्थाएँ (परिणाम) हैं, विशेष, अविशेष, लिङ्गमात्र और अलिङ्ग।

द्रष्टा दृशिमात्रः शुद्धोऽपि प्रत्यया-नुपश्यः॥ २०॥

द्रष्टा जो देखने की शक्ति मात्र है, निर्विकार होता हुआ भी चित्त की वृत्तियों के अनुसार देखनेवाला है।

तदर्थ एव दृश्यस्यात्मा ॥ २१ ॥

उस पुरुष के लिए ही (यह सारा) दृश्य का स्वरूप है।

कृतार्थं प्रति नष्टमप्यनष्टं तदन्यसा-धारणत्वात् ॥ २२ ॥

जिसका प्रयोजन सिद्ध हो गया है उसके लिए यह दृश्य नष्ट हुआ भी नष्ट नहीं होता है, क्योंकि वह दूसरे पुरुषों के साथ साझे की वस्तु है।

स्वस्वामिशक्त्योः स्वरूपोपलब्धिहेतुः संयोगः ॥ २३ ॥

स्व-शक्ति और स्वामी-शक्ति संज्ञक स्वरूप की उपलब्धि का जो कारण है वह (दृश्य द्रष्टा का स्वस्वामी भाव) संयोग है। अर्थात् स्वशक्ति और स्वामिशक्ति के स्वरूप की उपलब्धि (दृश्य द्रष्टा

के स्वामिभाव) संयोग के वियोग का कारण है।

तस्य हेतुरविद्या ॥ २४ ॥

इस अदर्शनरूपी संयोग का कारण अविद्या है।

तदभावात् संयोगाभावो हानं तद्दृशेः कैवल्यम् ॥ २५ ॥

उसके (अविद्या के) अभाव से (अदर्शनरूपी) संयोग का अभाव "हान" है वह चिति-शक्ति का कैवल्य है।

विवेकख्यातिरविप्लवा हानोपायः ॥ २६ ॥

अविप्लव शुद्ध विवेकख्याति हान का उपाय है।

तस्य सप्तधा प्रान्तभूमिः प्रज्ञा ॥ २७ ॥

उस (निर्मल विवेकख्यातिवाले योगी) की सात प्रकार की सबसे ऊँची अवस्थावाली प्रज्ञा होती है।

योगाङ्गाऽनुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिरा-विवेकख्यातेः ॥ २८ ॥

योग के अङ्गों के अनुष्ठान से अशुद्धि के नाश होने पर ज्ञान का प्रकाश विवेकख्यातिपर्यन्त हो जाता है।

यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि ॥ २९ ॥

यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि ये आठ योग के अङ्ग हैं।

अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहाः यमाः ॥ ३० ॥

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह यम हैं

जातिदेशकालसमयानवच्छिन्नाः सार्वभौमा महाव्रतम् ॥ ३१ ॥

जाति देश काल और समय (संकेत ''नियम विशेष'') की सीमा से रहित सर्व भूमियों में पालन करने योग्य यम, महाव्रत कहलाते हैं।

शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः ॥ ३२ ॥

शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर

प्रणिधान नियम हैं।

वितर्कबाधने प्रतिपक्षभावनम् ॥ ३३ ॥

वितर्कों द्वारा यम और नियमों का बाध होने पर प्रतिपक्ष का चिन्तन करना चाहिए।

वितर्का हिंसादयः कृतकारितानुमोदिता लोभक्रोधमोहपूर्वका मृदुमध्याधिमात्रा दुःखाज्ञानानन्तफला इति प्रतिपक्षभावनम् ॥ ३४ ॥

यम, नियमों के विरोधी हिंसा आदि वितर्क कहलाते हैं। वे तीन प्रकार के होते हैं, स्वयं किये हुए, दूसरों से कराये हुए और अनुमोदन किये हुए। उनके कारण लोभ, मोह और क्रोध होते हैं। वे मृदु, मध्य और अधिमात्रावाले होते हैं। यह सब दुःख और अज्ञानरूपी अपरिमित फलों को देनेवाले हैं, इस प्रकार प्रतिपक्ष की भावना करे।

अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः ॥ ३५ ॥

अहिंसा की दृढ़ स्थिति हो जाने पर उस (अहिंसक योगी) के निकट सब प्राणियों का वैर छूट जाता है।

सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम् ॥ ३६ ॥

सत्य में दृढ़ स्थिति हो जाने पर (उस सत्य-प्रतिष्ठ योगी की वाणी) क्रियाफल का आश्रय बनती है।

अस्तेयप्रतिष्ठायां सर्वरत्नोपस्थानम् ॥ ३७ ॥

अस्तेय की दृढ़ स्थिति होने पर सब रत्नों की प्राप्ति होती है।

ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां वीर्यलाभः ॥ ३८ ॥

ब्रह्मचर्य की दृढ़ स्थिति होने पर वीर्य का लाभ होता है।

अपरिग्रहस्थैर्ये जन्मकथन्तासम्बोधः ॥ ३९ ॥

अपरिग्रह की स्थिरता में जन्म के कैसेपन का साक्षात् होता है, अर्थात् इससे पूर्व जन्म क्या था, कैसा था, कहाँ था, यह जन्म किस प्रकार हुआ आगे

कैसा होगा? इस प्रकार इसकी तीनों काल में आत्मस्वरूप की जिज्ञासा निवृत्त हो जाती है।

शौचात् स्वाङ्गजुगुप्सा परैरसंसर्गः ॥ ४० ॥

शौच से अपने अङ्गों से घृणा होती है और दूसरों से संसर्ग का अभाव होता है।

सत्त्वशुद्धिसौमनस्यैकाग्र्येन्द्रियजयात्म-दर्शनयोग्यत्वानि च ॥ ४१ ॥

चित्त की शुद्धि, मन की स्वच्छता, एकाग्रता, इन्द्रियों का जीतना और आत्म दर्शन की योग्यता आभ्यन्तर शौच की शुद्धि से प्राप्ति होती है।

सन्तोषादनुत्तमसुखलाभः ॥ ४२ ॥

सन्तोष से अनुत्तम सुख का लाभ प्राप्त होता है। (उत्तम से उत्तम सुख, अर्थात् जिससे बढ़कर और कोई सुख नहीं)।

कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धिक्षयात्तपसः ॥ ४३ ॥

तप से अशुद्धि के क्षय होने से शरीर और इन्द्रियों की शुद्धि होती है।

स्वाध्यायादिष्टदेवतासम्प्रयोगः ॥ ४४ ॥

स्वाध्याय से इष्ट देवता का साक्षात् होता है।

समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात् ॥ ४५ ॥

ईश्वर-प्रणिधान से समाधि की सिद्धि होती है।

स्थिरसुखमासनम् ॥ ४६ ॥

जो स्थिर और सुखदायी हो वह आसन है।

प्रयत्नशैथिल्यानन्त्यसमापत्तिभ्याम् ॥ ४७ ॥

(आसन) प्रयत्न की शिथिलता और आनन्त्य (अपरिच्छिन्न) आकाशादि में जो अनन्तता है वह उसमें समापत्ति द्वारा सिद्ध होता है।

ततो द्वन्द्वानभिघातः ॥ ४८ ॥

आसन की सिद्धि से द्वन्द्वों की चोट नहीं लगती।

तस्मिन् सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः ॥ ४९ ॥

आसन के स्थिर होने पर श्वास-प्रश्वास की गति का रोकना प्राणायाम है।

बाह्याभ्यन्तरस्तम्भवृत्तिर्देशकालसंख्याभिः परिदृष्टो दीर्घसूक्ष्मः ॥ ५० ॥

(यह प्राणायाम) बाह्य-वृत्ति, आभ्यन्तर-वृत्ति और स्तम्भ-वृत्ति (तीन प्रकार का होता है) देश, काल और संख्या से देखा हुआ लम्बा और हल्का होता है।

बाह्याभ्यन्तरविषयाक्षेपी चतुर्थः ॥ ५१ ॥

बाहर अन्दर के विषयों को फेंकनेवाला अर्थात् आलोचन करनेवाला चौथा प्राणायाम है।

ततः क्षीयते प्रकाशावरणम् ॥ ५२ ॥

उससे प्रकाश का आवरण (विवेक-ज्ञान का पर्दा) क्षीण हो जाता है।

धारणासु च योग्यता मनसः ॥ ५३ ॥

और धारणाओं में मन की योग्यता होती है।

स्वविषयासम्प्रयोगे चित्तस्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः ॥ ५४ ॥

इन्द्रियों का अपने विषयों के साथ सम्बन्ध न होने पर चित्त के स्वरूप का अनुकरण (नकल) जैसा करना प्रत्याहार है।

ततः परमावश्यतेन्द्रियाणाम्॥ ५५॥

उस प्रत्याहार से इन्द्रियों का उत्कृष्ट वशीकार होता है।

इति पातञ्जले योगशास्त्रे
साधननिर्देशो नाम द्वितीयः पादः॥

अथ विभूति पादः

देशबन्धश्चित्तस्य धारणा॥ १॥

चित्त का वृत्ति मात्र से किसी स्थान विशेष में (जैसे नाभि, हृदय कमल, नासिका अग्रभाग, भृकुटी, ब्रह्मरन्ध्र आदि आध्यात्मिक देश अथवा चन्द्र, ध्रुव आदि बाह्य देश) में बाँधना धारणा कहलाता है।

तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्॥ २॥

उसमें वृत्ति का एक-सा (घटोऽयम् आदि) बना रहना ध्यान है। धारणा में चित्त जिस वृत्तिमात्र से ध्येय में लगता है जब वह वृत्ति इस प्रकार समान प्रवाह से लगातार उदय होती रहे कि दूसरी कोई और वृत्ति बीच में न आवे तो उसको ध्यान कहते हैं।

तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः॥ ३॥

वह ध्यान ही समाधि कहलाता है जब उसमें केवल ध्येय अर्थ मात्र से भासता है और उसका (ध्यान का) स्वरूप शून्य जैसा हो जाता है।

त्रयमेकत्र संयमः ॥ ४ ॥

तीनों (धारणा, ध्यान और समाधि) का एक विषय में होना संयम कहलाता है।

तज्जयात्प्रज्ञालोकः ॥ ५ ॥

उस (संयम) के जय से समाधि प्रज्ञा का प्रकाश होता है।

तस्य भूमिषु विनियोगः ॥ ६ ॥

उस संयम का भूमियों (चित्त भूमि) में विनियोग करना (लगाना) चाहिए।

त्रयमन्तरङ्गं पूर्वेभ्यः ॥ ७ ॥

पहलों (यम, नियम, आसन, प्राणायाम और प्रत्याहार) की अपेक्षा से तीनों (धारणा, ध्यान और समाधि) (सम्प्रज्ञात समाधि के) अन्तरङ्ग हैं।

तदपि बहिरङ्गं निर्बीजस्य ॥ ८ ॥

वह (धारणा, ध्यान, समाधि) भी असम्प्रज्ञात समाधि का बाहर का अङ्ग है।

व्युत्थाननिरोधसंस्कारयोरभिभवप्रादुर्भावौ निरोधक्षणचित्तान्वयो निरोधपरिणामः ॥ ९ ॥

व्युत्थान के संस्कार का दबना और निरोध के संस्कार का प्रकट होना यह जो निरोध काल में होनेवाला चित्त का दोनों संस्कारों में अनुगत होना है वह निरोध परिणाम कहा जाता है।

तस्य प्रशान्तवाहिता संस्कारात् ॥ १० ॥

विरोध संस्कार से चित्त की शान्त प्रवाहवाली गति होती है।

सर्वार्थतैकाग्रतयोः क्षयोदयौ चित्तस्य समाधिपरिणामः ॥ ११ ॥

चित्त (धर्मी) के सर्वार्थता और एकाग्रता रूप धर्मों का (क्रम से) नाश होना और प्रकट होना चित्त का समाधि अवस्था में परिणाम है।

ततः पुनः शान्तोदितौ तुल्यप्रत्ययौ चित्तस्यैकाग्रता परिणामः॥ १२॥

तब फिर समान वृत्तियों का शान्त (दबना) और उदय होना चित्त की एकाग्रता परिणाम है।

एतेन भूतेन्द्रियेषु धर्मलक्षणावस्था-परिणामा व्याख्याताः॥ १३॥

चित्त के परिणाम से ही भूतों और इन्द्रियों में धर्म, लक्षण और अवस्था परिणाम जानने चाहिए।

शान्तोदिताव्यपदेश्य धर्मानुपाती धर्मी॥ १४॥

अतीत, वर्तमान और भविष्यत् धर्मों में अनुगत धर्मी है।

क्रमान्यत्वं परिणामान्यत्वे हेतुः॥ १५॥

क्रमों का भेद परिणाम के भेद में हेतु है।

परिणामत्रयसंयमादतीतानागतज्ञानम्॥ १६॥

तीनों परिणामों में संयम करने से भूत और भविष्यत् का ज्ञान होता है।

शब्दार्थप्रत्ययानामितरेतराध्यासात् सङ्कर-स्तत्प्रविभागसंयमात्सर्वभूतरुत ज्ञानम्॥ १७॥

शब्द, अर्थ और ज्ञान के परस्पर के अभ्यास से अभेद भासना होता है। उनके विभाग में संयम करने से सब प्राणियों के शब्द का ज्ञान होता है।

संस्कारसाक्षात्करणात् पूर्वजातिज्ञानम्॥ १८॥

संस्कार के साक्षात् करने से पूर्वजन्म का ज्ञान होता है।

प्रत्ययस्य परिचितज्ञानम्॥ १९॥

दूसरे के चित्त के साक्षात् करने से दूसरे के चित्त का ज्ञान होता है।

न च तत्सालम्बनंतस्याविषयीभूतत्वात्॥ २०॥

पर वह (दूसरे का चित्त) अपने विषय सहित साक्षात् नहीं होता, क्योंकि वह (विषय सहित चित्त) उसका (संयम का) विषय नहीं है।

कायरूपसंयमात् तद्ग्राह्यशक्तिस्तम्भे चक्षुःप्रकाशासम्प्रयोगेऽन्तर्धानम्॥ २१॥

अपने शरीर के रूप में संयम करने से रूप की ग्राह्य शक्ति रुक जाती है इससे दूसरे के प्रकाश से योगी के शरीर का संनिकर्ष न होने के कारण (योगी के शरीर का) अन्तर्धान (छिप जाना) हो जाता है।

सोपक्रमं निरुपक्रमं च कर्म तत्संयमादपरान्तज्ञानमरिष्टेभ्यो वा॥ २२॥

कर्म सोपक्रम (तीव्र वेगवाला अथवा आरम्भ सहित) और निरुपक्रम (मन्द वेगवाला अथवा आरम्भ रहित) दो प्रकार का होता है। उसमें संयम करने से मृत्यु का ज्ञान होता है अथवा अरिष्टों (उलटे चिह्नों) से मृत्यु का ज्ञान होता है।

मैत्र्यादिषु बलानि॥ २३॥

मैत्री आदि (१।३३) में संयम करने से मैत्री आदि बल प्राप्त होते हैं।

बलेषु हस्तिबलादीनि॥ २४॥

हस्ती आदि के बलों में संयम करने से हस्ती आदि बल प्राप्त होते हैं।

प्रवृत्त्यालोकन्यासात्सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टज्ञानम्॥ २५॥

प्रवृत्ति (मन की ज्योतिष्मती प्रवृत्ति १।३६) के प्रकाश डालने से सूक्ष्म (इन्द्रियातीत) व्यवहित

(आड़ में रहनेवाली) और विप्रकृष्ट (दूर की) वस्तु का ज्ञान होता है।

भुवनज्ञानं सूर्ये संयमात्॥ २६॥

सूर्य में संयम से भुवन (सातों लोकों में जो भुवन हैं) का ज्ञान होता है।

चन्द्रे ताराव्यूहज्ञानम्॥ २७॥

चन्द्रमा में संयम करने से ताराओं के व्यूह (नक्षत्रों के स्थान विशेष) का ज्ञान होता है।

ध्रुवे तद्गतिज्ञानम्॥ २८॥

ध्रुव में संयम करने से ताराओं की गति का ज्ञान होता है।

नाभिचक्रे कायव्यूहज्ञानम्॥ २९॥

नाभिचक्र में संयम करने से शरीर के व्यूह का ज्ञान होता है।

कण्ठकूपे क्षुत्पिपासानिवृत्तिः॥ ३०॥

कण्ठ कूप में संयम करने से क्षुधा और प्यास (भूख प्यास) की निवृत्ति होती है।

कूर्मनाड्यां स्थैर्यम्॥ ३१॥

कूर्मनाड़ी में संयम करने से स्थिरता होती है।

मूर्धज्योतिषि सिद्धदर्शनम्॥ ३२॥

मूर्धा की ज्योति में संयम करने से सिद्धों का दर्शन होता है।

प्रातिभाद्वा सर्वम्॥ ३३॥

अथवा प्रातिभज्ञान से योगी सब कुछ जान लेता है।

हृदये चित्तसंवित्॥ ३४॥

हृदय में संयम करने से चित्त का ज्ञान होता है।

सत्त्वपुरुषयोरत्यन्तासङ्कीर्णयोः प्रत्ययाविशेषो भोगः परार्थत्वात् स्वार्थसंयमात् पुरुषज्ञानम्॥ ३५॥

चित्त और पुरुष जो परस्पर अत्यन्त भिन्न हैं इन दोनों की प्रतीतियों का अभेद भोग है। उनमें से परार्थ प्रतीति से भिन्न जो स्वार्थ प्रतीति है उसमें संयम करने से पुरुष का ज्ञान होता है अर्थात् पुरुष

विषयक प्रज्ञा उत्पन्न होती है।

ततः प्रातिभश्रावणवेदनादर्शास्वादवार्ता जायन्ते॥ ३६॥

उस स्वार्थ-संयम के अभ्यास से प्रातिभ, श्रावण, वेदना, आदर्श, आस्वाद और वार्ता ज्ञान उत्पन्न होता है।

प्रातिभ—मन में सूक्ष्म (अतीन्द्रिय), व्यवहित (छिपी हुई), विप्रकृष्ट (दूरस्थ), अतीत और अनागत वस्तुओं के जानने की योग्यता।

श्रावण—श्रोत्रेन्द्रिय को दिव्य और दूर के शब्द सुनने की योग्यता।

वेदना—त्वचा इन्द्रिय की दिव्य स्पर्श जानने की योग्यता।

आदर्श—नेत्रेन्द्रिय की दिव्य रूप देखने की योग्यता।

आस्वाद—रसनेन्द्रिय की दिव्य रस जानने की योग्यता।

वार्त्ता—घ्राणेन्द्रिय की दिव्य गन्ध सूँघने की योग्यता।

ते समाधावुपसर्गा व्युत्थाने सिद्धयः ॥ ३७॥

वे उपर्युक्त ६ सिद्धियाँ समाधि में विघ्न हैं, व्युत्थान में सिद्धियाँ हैं।

बन्धकारण शैथिल्यात् प्रचारसंवेदनाच्च चित्तस्य परशरीरावेशः ॥ ३८ ॥

बन्ध के कारण को शिथिल करने से और घूमने के मार्ग के जानने से चित्त (सूक्ष्म शरीर) का दूसरे के शरीर में आवेश होता है।

उदानजयाज्जलपङ्ककण्टकादिष्वसङ्ग उत् क्रान्तिश्च ॥ ३९ ॥

संयम द्वारा उदान के जीतने से जल, कीचड़, काँटों आदि में असङ्ग रहना और ऊर्ध्वगति होती है।

समानजयाज्ज्वलनम् ॥ ४० ॥

(संयम द्वारा) समान के जीतने से योगी का दीप्तिमान् होना होता है।

श्रोत्राकाशयोः सम्बन्धसंयमाद्दिव्यं श्रोत्रम् ॥ ४१ ॥

श्रोत्र और आकाश के सम्बन्ध में संयम करने से दिव्य श्रोत्र होता है।

कायाकाशयोः सम्बन्धसंयमाल्लघुतूल-समापत्तेश्चाकाशगमनम् ॥ ४२ ॥

शरीर और आकाश के सम्बन्ध में संयम करने से और हलके रुई आदि में समापत्ति करने से आकाश-गमन सिद्धि प्राप्त होती है।

बहिरकल्पिता वृत्तिर्महाविदेहा ततः प्रकाशावरणक्षयः ॥ ४३ ॥

शरीर से बाहर कल्पना न की हुई वृत्ति महाविदेहा है उससे प्रकाश के आवरण का नाश होता है।

स्थूलस्वरूपसूक्ष्मान्वयार्थवत्वसंयमाद् भूतजयः ॥ ४४ ॥

पाँचों भूतों के स्थूल, स्वरूप, सूक्ष्म, अन्वय और अर्थवत्व में संयम करने से भूतों का जय होता है।

(१) स्थूल—पाँचों भूतों का अपना-अपना विशिष्ट आकार, (२) स्वरूप—पाँचों भूतों का

अपना-अपना नियत धर्म जिनसे वे जाने जाते हैं, (३) सूक्ष्म—सूक्ष्म भूतों के कारण पाँच तन्त्रमात्राएँ, (४) अन्वय—तीनों गुण जो अपने प्रकाश क्रिया और स्थिति धर्म से पाँचों भूतों में अन्वयी भाव से रहते हैं (५) अर्थवत्व—पुरुष का प्रयोजन भोग और अपवर्ग जिसके लिए पाँचों भूत कार्य में लगे हुए हैं।

ततोऽणिमादिप्रादुर्भावः कायसंपत्तद्धर्मानभिघातश्च॥ ४५॥

उस भूत जय से अणिमा आदि आठ सिद्धियों का प्रादुर्भाव और काय-सम्पत् होती है और उन पाँचों भूतों के धर्मों से रुकावट नहीं होती।

रूपलावण्य बलवज्र संहननत्वानि कायसम्पत्॥ ४६॥

रूप, लावण्य, बल वज्र की-सी बनावट, कायसम्पत् (शरीर की सम्पदा) कहलाती है।

ग्रहण स्वरूपास्मितान्वयार्थवत्वसंयमादिन्द्रियजयः॥ ४७॥

(इन्द्रियों के पाँचों रूप) ग्रहण, स्वरूप,

अस्मिता, अन्वय और अर्थवत्व में संयम करने से इन्द्रिय जय होता है।

(१) **ग्रहण**—इन्द्रियों की विषयाभिमुखी वृत्ति, (२) **स्वरूप**—सामान्य रूप से इन्द्रियों का प्रकाशकत्व, (३) **अस्मिता**—इन्द्रियों का कारण अहङ्कार, (४) **अन्वय**—तीनों गुण जो प्रकाश, क्रिया और स्थिति धर्म से इन्द्रियों में अन्वयी भाव से अनुगत हैं, (५) **अर्थवत्व**—इनका प्रयोजन पुरुष का भोग और अपवर्ग।

ततो मनोजवित्वं विकरणभावः प्रधानजयश्च॥ ४८॥

इन्द्रिय जय से मनोजवित्व, विकरणभाव और प्रधान का जय होता है।

(१) **मनोजवित्व**—मन के समान शरीर का वेगवान् होना, (२) **विकरणभाव**—इन्द्रियों में दूर के अर्थों को जानने की योग्यता, (३) **जय**—प्रकृति के सब विकारों का वशीकार।

सत्वपुरुषान्यताख्यातिमात्रस्य सर्वभावाधिष्ठातृत्वं सर्वज्ञातृत्वं च॥ ४९॥

चित्त और पुरुष के भेद जाननेवाले को सारे भावों का मालिक होना और सर्वज्ञ होना प्राप्त होता है।

तद्वैराग्यादपि दोषबीजक्षये कैवल्यम् ॥ ५० ॥

विवेक ख्याति से भी वैराग्य होने पर दोषों के बीज के क्षय होने पर कैवल्य होता है।

स्थान्युपनिमन्त्रणे सङ्गस्मयाकरणं पुनरनिष्ट प्रसङ्गात् ॥ ५१ ॥

स्थानवालों के आदरभाव करने पर लगाव व घमण्ड नहीं करना चाहिए, क्योंकि (इसमें) फिर अनिष्ट के प्रसङ्ग का भय है।

क्षणतत्क्रमयोः संयमाद्विवेकजं ज्ञानम् ॥ ५२ ॥

क्षण और उसके क्रमों में संयम करने से विवेकज ज्ञान उत्पन्न होता है।

जातिलक्षणदेशैरन्यताऽनवच्छेदात् तुल्योस्ततः प्रतिपत्तिः ॥ ५३ ॥

एक-दूसरे से जाति, लक्षण, देश से भेद का

निश्चय न होने से दो तुल्य वस्तुओं का विवेकज ज्ञान से निश्चय होता है।

तारकं सर्वविषयं सर्वथा विषयक्रमं चेति विवेकजं ज्ञानम् ॥ ५४ ॥

बिना निमित्त के अपनी प्रभा से स्वयं उत्पन्न होनेवाले, सबको विषय करनेवाले सब प्रकार से विषय करनेवाले बिना क्रम के एक साथ होनेवाले ज्ञान को विवेकज ज्ञान कहते हैं।

सत्त्वपुरुषयोः शुद्धिसाम्ये कैवल्यमिति ॥ ५५ ॥

चित्त और पुरुष की समान शुद्धि होने पर कैवल्य होता है।

इति पातञ्जले योगशास्त्रे
विभूतिनिर्देशो तृतीयपादः ॥

अथ कैवल्य पादः

जन्मौषधिमन्त्रतपः समाधिजाः सिद्धयः ॥ १ ॥

जन्म, औषधि, मन्त्र, तप और समाधि से उत्पन्न होनेवाली सिद्धियाँ हैं। इस प्रकार सिद्धियों के भेद से सिद्ध चित्तों के पाँच भेद जानने चाहिएँ।

जात्यन्तरपरिणामः प्रकृत्यापूरात् ॥ २ ॥

एक जाति से दूसरी जाति में बदल जाना प्रकृतियों (उपादान कारणों) से भरने से होता है।

निमित्तमप्रयोजकं प्रकृतीनां वरणभेदस्तु ततः क्षेत्रिकवत् ॥ ३ ॥

धर्मादि निमित्त प्रकृतियों का प्रेरक नहीं होता, किन्तु उससे किसान के सदृश रुकावट दूर होती है।

निर्माणचित्तान्यस्मितामात्रात् ॥ ४ ॥

अस्मिता मात्र से निर्माण चित्त होते हैं।

प्रवृत्तिभेदे प्रयोजकं चित्तमेकमनेकेषाम् ॥ ५ ॥

प्रवृत्ति के भेदों में एक चित्त अनेक चित्तों का प्रेरक होता है।

तत्र ध्यानजमनाशयम् ॥ ६ ॥

उन पाँच प्रकार के जन्म, औषध आदि से उत्पन्न हुए पाँचों निर्माण-सिद्ध-चित्तों में से समाधि से उत्पन्न होनेवाला चित्त वासनाओं से रहित होता है।

कर्माशुक्लाकृष्णं योगिनस्त्रिविधमितरेषाम् ॥ ७ ॥

योगी का कर्म अशुक्ल-अकृष्ण (न शुक्ल न कृष्ण अर्थात् निष्काम) होता है, दूसरों (सकामी पुरुषों) का तीन प्रकार का (पाप, पुण्य और पापतुल्यमिश्रित) होता है।

ततस्तद्विपाकानुगुणानामेवाभिव्यक्तिर्वासनानाम् ॥ ८ ॥

उन (तीन प्रकार के सकाम कर्मों) से उनके फल के अनुकूल ही वासनाओं की अभिव्यक्ति

(प्रादुर्भाव) होती है।

जातिदेशकालव्यवहितानामप्यानन्तर्यं स्मृतिसंस्कारयोरेकरूपत्वात्॥ ९॥

जाति, देश और कालकृत व्यवधानवाली वासनाओं का भी व्यवधान नहीं होता, क्योंकि स्मृति और संस्कार एकरूप (समानविषयक) होते हैं।

तासामनादित्वं चाशिषो नित्यत्वात्॥ १०॥

उन वासनाओं का आशिष (अपने कल्याण की इच्छा) के नित्य होने से अनादित्व (अनादि होना) भी है।

हेतुफलाश्रयालम्बनैः संगृहीतत्वादेषामभावे तदभावः॥ ११॥

हेतु, फल, आश्रय और आलम्बन से वासनाओं के संगृहीत (सहारे) होने से इनके (हेतु, फल, आश्रय और आलम्बन के) अभाव में उन (वासनाओं) का अभाव होता है।

अतीतानागतं स्वरूपतोऽस्त्यध्वभेदाद धर्माणाम्॥ १२॥

अतीत और अनागत स्वरूप से रहते हैं, क्योंकि धर्मों का काल से भेद होता है।

ते व्यक्तसूक्ष्मा गुणात्मानः॥ १३॥

वे (धर्म) प्रकट और सूक्ष्म गुणस्वरूप हैं।

परिणामैकत्वाद्वस्तुतत्त्वम्॥ १४॥

परिणाम के एक होने से वस्तु की एकता होती है।

वस्तुसाम्ये चित्तभेदात्तयोर्विभक्तः पन्थाः॥ १५॥

वस्तु के एक होने पर (भी) चित्त के भेद से उन दोनों (चित्त और वस्तु) का अलग-अलग मार्ग है, अर्थात् वे दोनों अलग-अलग हैं।

न चैकचित्ततन्त्रं वस्तु तदप्रमाणकं तदा किं स्यात्॥ १६॥

(ग्राह्य) वस्तु एक चित्त के आधीन नहीं है,

क्योंकि वह (वस्तु) बिना प्रमाण (चित्त) के उस समय क्या होगी, अर्थात् कुछ भी नहीं होगी।

तदुपरागापेक्षित्वाच्चित्तस्य वस्तु ज्ञाताज्ञातम्॥ १७॥

चित्त को वस्तु के जानने में उसके उपराग (विषय का चित्त में प्रतिबिम्ब पड़ना) की अपेक्षा होती है, इसलिए उसको (चित्त को) वस्तु (उपराग में) ज्ञात और (उपराग न होने में) अज्ञात होती है।

सदा ज्ञाताश्चित्तवृत्तयस्तत्प्रभोः पुरुषस्यापरिणामित्वात्॥ १८॥

चित्त का स्वामी पुरुष परिणामी नहीं है इसलिए चित्त की वृत्तियाँ उसे सदा ज्ञात रहती हैं।

न तत्स्वाभासं दृश्यत्वात्॥ १९॥

चित्त स्वप्रकाश नहीं है, क्योंकि वह दृश्य है।

एक समये चोभयानवधारणम्॥ २०॥

और एक समय में दोनों (विषय और चित्त)

का ज्ञान नहीं हो सकता।

चित्तान्तरदृश्ये बुद्धिबुद्धेरतिप्रसङ्गः स्मृतिसङ्करश्च॥ २१॥

यदि पहले चित्त को दूसरे चित्त का दृश्य माना जावे तो चित्त ज्ञान के चित्त (ज्ञान) का अनवस्था दोष होगा (अर्थात् एक ज्ञान भी कभी समाप्त न होगा) और स्मृतियों का सङ्कर हो जाएगा, अर्थात् यह पता न चल सकेगा कि किसकी कौन-सी स्मृति है।

चितेरप्रतिसंक्रमायास्तदाकारापत्तौ स्वबुद्धिसंवेदनम्॥ २२॥

पुरुष को जो क्रिया अथवा परिणाम रहित है स्वप्रतिबिम्बित चित्त के आकार की तरह आकार की प्राप्ति होने पर अपने विषयभूत चित्त का ज्ञान होता है।

द्रष्टृदृश्योपरक्तं चित्तं सर्वार्थम्॥ २३॥

द्रष्टा और दृश्य से रंगा हुआ चित्त सारे

अर्थोंवाला (आकारवाला) होता है।

तदसंख्येयवासनाभिश्चित्रमपि परार्थं संहत्यकारित्वात्॥ २४॥

चित्त अनगिनत वासनाओं से चित्रित हुआ भी परार्थ है, क्योंकि वह संहत्यकारी है। (जो वस्तु कई चीजों से मिलकर काम की बनती है वह संहत्यकारी कहलाती है। जैसे मकान, शय्या आदि। संहत्यकारी वस्तु अपने लिए नहीं होती, बल्कि किसी दूसरे के लिए होती है। चित्त भी सत्त्व, रजस और तमस गुणों के अङ्गाङ्गी भाव के मेल से सत्त्व-प्रधान बना है। इसलिए यह संहत्यकारी है और किसी दूसरे के लिए होना चाहिए। सो पुरुष के भोग अपवर्ग के लिए ही इसकी प्रवृत्ति है)।

विशेषदर्शिनः आत्मभावभावनाविनिवृत्तिः॥ २५॥

विवेक ख्याति द्वारा पुरुष और चित्त में भेद के देखनेवाले की आत्मभाव की भावना (मैं कौन हूँ,

क्या हूँ इत्यादि) निवृत्त हो जाती है।

तदा विवेक निम्नं कैवल्यप्राग्भारं चित्तम्॥ २६॥

विशेषदर्शन के उदय होने पर विशेषदर्शी का चित्त विवेक-मार्ग सञ्चारी होकर कैवल्य के अभिमुख होता है।

तच्छिद्रेषु प्रत्ययान्तराणि संस्कारेभ्यः॥ २७॥

उस विवेक ज्ञान के बीच-बीच में अन्य व्युत्थान की वृत्तियाँ (भी) (पूर्व के व्युत्थान के) संस्कारों से उदय होती रहती हैं।

हानमेषां क्लेशवदुक्तम्॥ २८॥

उन (व्युत्थानों के संस्कारों) की निवृत्ति क्लेशों की निवृत्ति (२।१०।११) के तुल्य कही गई जाननी चाहिए।

प्रसंख्यानेऽप्यकुसीदस्य सर्वथा विवेकख्यातेर्धर्ममेघः समाधिः॥ २९॥

जो योगी प्रसंख्यान-ज्ञान से भी विरक्त है उनको निरन्तर विवेक ख्याति के उदय होने से

धर्ममेघ-समाधि होती है।

ततः क्लेशकर्मनिवृत्तिः॥ ३०॥

उस (धर्ममेघ-समाधि) से क्लेश (अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश) और कर्मों (सकाम कर्म अर्थात् शुभ, अशुभ और शुभाशुभमिश्रित) की निवृत्ति होती है।

तदा सर्वावरणमलापेतस्य ज्ञानस्यानन्त्याज्ज्ञेयमल्पम्॥ ३१॥

तब सब क्लेश कर्मों के क्षयकाल में सर्व आवरणरूप मलों से रहित होकर चित्तरूप प्रकाश के अनन्त होने से ज्ञेय-पदार्थ अल्प हो जाता है।

ततः कृतार्थानां परिणामक्रमसमाप्तिर्गुणानाम्॥ ३२॥

तब कृतार्थ हुए गुणों के (पुरुष का भोग और अपवर्ग प्रयोजन सिद्ध हो जाने पर) परिणाम के क्रम (उस पुरुष के प्रति शरीर इन्द्रिय आदि के आरम्भ) की समाप्ति हो जाती है।

क्षणप्रतियोगी परिणामोपरान्तनिर्ग्राह्यः क्रमः॥ ३२॥

प्रतिक्षण होनेवाली परिणाम की समाप्ति पर जानी जानेवाली (गुणों की अवस्था विशेष का नाम) क्रम है।

पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तिरिति॥ ३३॥

पुरुषार्थ से शून्य हुए गुणों का अपने कारण में लीन हो जाना कैवल्य है अथवा चितिशक्ति का अपने स्वरूप में अवस्थित हो जाना कैवल्य है।

इति पातञ्जले योगशास्त्रे
कैवल्यनिर्देशो नाम चतुर्थपादः॥

ईशोपनिषद्

ईशा वास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्। तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः मा गृधः कस्यस्विद्धनम्॥ १॥

यह सब जो कुछ ब्रह्माण्ड में लोक हैं वे सब-के-सब उस प्रभु से पूर्णतया व्याप्त हैं, इसलिए हे जीव तूने इस संसार का त्याग भाव से उपभोग करना है। लालच न करना। भला यह धन किसका है।

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतँ समाः। एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे॥ २॥

कर्मों को करते हुए ही इस लोक में तूने सौ वर्ष पर्यन्त जीने की कामना करनी है। तेरे विषय में ऐसा ही निश्चय है। इससे दूसरा मार्ग तेरे लिए

नहीं है। नर मनुष्य कर्म में लिप्त नहीं होता।

असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः। ताँस्ते प्रेत्यापि गच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः॥ ३॥

जो कोई भी आत्मघाती लोग होते हैं वे मृत्यु के अनन्तर उन लोकों की ओर जाते हैं जो लोक असुरों के लिए हितकर होने से 'असुर्य' इस नामवाले हैं और घोर अन्धेरे से आच्छादित हैं।

अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनद् देवा आप्नुवन् पूर्वमर्षत्। तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत्तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति॥ ४॥

वे सर्वव्यापक प्रभु एक हैं और बिल्कुल हिल नहीं रहे, पर मन से भी अधिक वेगवान् हैं। इस प्रभु को देव नहीं पकड़ पाते, क्योंकि वे प्रभु तो पहले ही पहुँचे हुए हैं, अर्थात् गन्तव्य स्थान पर विद्यमान हैं। वे प्रभु ठहरे ही दौड़ते हुए दूसरों को लाङ्घ जाते हैं। मातृगर्भ में बैठनेवाला यह जीव भी उस प्रभु में ही कर्मों को धारण करता है।

तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके। तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः ॥ ५ ॥

वह प्रभु गति करते हैं और वे गति नहीं करते। वे दूर हैं और वे समीप भी हैं। वे इस सारे ब्रह्माण्ड के अन्दर हैं और बाहर भी हैं।

यस्तु सर्वाणि भूतानि आत्मन्येवानु पश्यति। सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न वि चिकित्सति ॥ ६ ॥

जो सब प्राणियों को उस सर्वव्यापक, प्राणतत्त्व में ही अपने स्वरूप को देखने के साथ देखता है, और सब प्राणियों में परमात्मा को देखता है फिर किसी प्रकार का सन्देह नहीं करता।

यस्मिन्सर्वाणि भूतानि आत्मैवाभूद्विजानतः। तत्र को मोहः कःशोक एकत्वमनुपश्यतः ॥ ७ ॥

जिस समय विशिष्ट ज्ञानी के लिए सब प्राणी आत्मा ही हो जाते हैं। उस स्थिति में एकत्व को देखते हुए के लिए क्या तो मोह और क्या शोक अर्थात् वह शोक मोह से ऊपर उठ जाता है।

स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरः शुद्ध-मपापविद्धम्। कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भू-र्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः ॥ ८ ॥

वे प्रभु चारों ओर गये हुए हैं, अत्यन्त उज्ज्वल हैं। शरीर रहित हैं, व्रणादि से रहित हैं। नस नाड़ियों से शून्य हैं, पूर्ण शुद्ध हैं और पाप से विद्ध नहीं होते। प्रत्येक वस्तु के तत्त्व को जानते हैं, पूर्ण ज्ञानी हैं। चारों ओर सर्वत्र होनेवाले हैं, स्वयं होनेवाले हैं, अनादिकाल से प्रजाओं के लिए ठीक-ठीक सब बातों व चीजों का (व्यदधात्) संपादन करते हैं।

अन्धन्तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते।
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायाᳬरताः ॥ ९ ॥

ये जो प्रकृति विद्या की उपासना करते हैं, घने अन्धेरे में प्रवेश करते हैं। उससे अधिक ही अन्धेरे को वे प्राप्त होते हैं जो निश्चय से ब्रह्मविद्या में फँसे हुए हैं।

अन्यदेवाहुर्विद्यायाः अन्यदाहुरविद्यायाः। इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद् विचचक्षिरे॥ १०॥

आत्मिक विद्या का विलक्षण ही फल कहते हैं। पर प्रकृति विद्या के भी तो विलक्षण फल को कहते हैं। इस प्रकार हमने सुना है उन ज्ञानियों से जो हमारे लिए इस बात का प्रतिपादन करते हैं।

विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयऽसह। अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते॥ ११॥

जो आत्म विद्या और सृष्टि विद्या इन दोनों को साथ-साथ जानता है, वह सृष्टि विद्या से मृत्यु को तैर करके आत्मज्ञान से अमरता को प्राप्त करता है।

अन्धन्तमः प्रविशन्ति येऽसम्भूतिमुपासते। ततो भूय इवे ते तमो य उ सम्भूत्याऽंरताः॥ १२॥

जो व्यक्तिवाद की उपासना करते हैं वे घने अन्धेरे में प्रवेश करते हैं और जो समाजवाद में फँसे हुए हैं। वे उससे कुछ अधिक ही अन्धेरे में पहुँचते हैं।

अन्यदेवाहुः संभवात् अन्यदाहुरसंभवात्। इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद् विचचक्षिरे॥ १३॥

समाजवाद से विलक्षण ही फल कहते हैं। व्यक्तिवाद से भी विलक्षण ही फल कहा गया है। यह बात हमने सुनी है उन ज्ञानियों से जो हमें इस विषय में विशेषरूप से बताते हैं।

संभूतिञ्च विनाशञ्च यस्तद्वेदोभयः सह। विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा संभूत्यामृतमश्नु ते॥ १४॥

समाजवाद को व व्यक्तिवाद को जो उन दोनों को साथ-साथ प्राप्त करता है वह व्यक्तिवाद से मृत्यु को तैर करके समाजवाद से अमरता को प्राप्त करता है।

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।
त त्त्वं पूषन् अपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये॥

स्वर्ण के बने देदीप्यमान पात्र से सत्य का स्वरूप ढका हुआ है। सबका पोषण करनेवाले प्रभो आप ही उस आवरण को दूर करिये ताकि हम सत्य

को धारण कर सकें व प्रत्येक वस्तु के वास्तविक रूप को देख सकें।

पूषन्नेकर्षे यम् सूर्य प्राजापत्य व्यूह रश्मीन् समूह। तेजो यत्ते रूपं कल्याणतमं तत्ते पश्यामि योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि॥

ऐ सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का पोषण करनेवाले अद्वितीय ज्ञानी सबका नियमन करनेवाले सभी को प्रकाश व प्रेरणा देनेवाले सब प्रजाओं का कल्याण करनेवाले प्रभो आप हमारी ज्ञान व तेज की किरणों को खूब विस्तृत कीजिए और केन्द्रित करिये। ऐसा होने पर ही आपका जो अत्यन्त कल्याणकारी तेजस्वी रूप है आपके उस रूप को मैं देखता हूँ। जो एक-एक प्राणी में पुरुष है वह सर्वव्यापक है।

वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्तꣳशरीरम्। ओ३म् क्रतो स्मर क्लिबे स्मर कृतꣳस्मर॥

क्रियाशील आत्मा भौतिक नहीं और इसीलिए अविनश्वर है। दूसरी ओर यह शरीर भस्मरूप

परिणामवाला है। ये यज्ञादि कर्मों द्वारा शक्ति का संचय करनेवाले जीव तू उस रक्षक प्रभु का स्मरण कर शक्ति की प्राप्ति के लिए स्मरण कर अपने कर्त्तव्य कर्म का स्मरण कर।

अग्ने नय सुपथा राये अस्मान् विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्। युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठान्ते नम उक्तिं विधेम॥

ऐ आगे ले जानेवाले प्रभो हम सबको धन के लिए उत्तम मार्ग से ले चलिये। हे दिव्यमार्ग को दिखलानेवाले प्रभो हमारे सब कर्मों को आप जान रहे हैं। हमारे से कुटिलता को व पाप को पृथक् करिये। ऐसी कृपा के लिए बहुत ही अधिक तेरे प्रति नमन के वचन कहते हैं।

चार युगों की संख्या

हर नाप और तौल का यह नियम है कि वह छोटे से बड़े की ओर चलता है, पर युग बड़े से छोटे की ओर चलते हैं। अर्थात् पहले सतयुग होता है, जो सबसे बड़ा है और अन्त में कलि आता है, जो सबसे छोटा है। समय-विभाग के दूसरे अङ्गों को देखते हैं, तो ज्ञात होता है कि इतनी घड़ी का दिन, इतने दिन का मास और इतने मास का वर्ष होता है, किन्तु जब युगों में पहुँचते हैं तो उनको उलटा पाते हैं। इसका समाधान यह है कि युगों के क्रम में पहले कलि है, क्योंकि 'कलि-संख्याने' का अर्थ संख्या का आरम्भ है। संख्या का आरम्भ १. है जो कलि के लिए आता है २, ३, ४, क्रम से द्वापर, त्रेता और कृत के लिए आते हैं। द्वापर कलि का दूना, त्रेता कलि का तिगुना और कृत जो चार का वाचक है, कलि का चौगुना समझा जाता है।

अर्थात् उनका क्रम १, २, ३, ४ होता है, पर 'अङ्कानां वामतो गतिः' अर्थात् अङ्क बाईं ओर को चलते हैं, इसलिए पहले ४ अङ्कवाला सतयुग ही गिना जाता है।

युगों की गणना इस प्रकार से है—

सतयुग के	१७,२८,००० वर्ष
त्रेतायुग के	१२,९६,००० वर्ष
द्वापर युग के	८,६४,००० वर्ष
अब तक कलियुग के वर्ष	५,०९० वर्ष
योग—	३९,३८०,०९० वर्ष

मनुस्मृति में राजा को युग से जाना जाता है। राजा के शासन में ही चार युग—

कृतं त्रेतायुगं चैव द्वापरं कलिरेव च।
राज्ञो वृत्तानि सर्वाणि राजा हि युगमुच्यते॥

—मनु० ९।३०१

सतयुग, त्रेतायुग, द्वापरयुग और कलियुग ये सब राजा के ही आचार-व्यवहार विशेष हैं अर्थात्

राजा जैसा राज्य को बनाता है उस राज्य में वैसा ही युग बन जाता है। वस्तुतः राजा ही युग कहलाता है अर्थात् राजा ही युग निर्माता है॥

कलिः प्रसुप्तो भवति स जाग्रद् द्वापरं युगम्।
कर्मस्वभ्युद्यतस्त्रेता विचरंस्तु कृतं युगम्॥ ३०२॥

अर्थ—जब राजा सोता है तो वह 'कलियुग' होता है। जब वह जागता है तो वह 'द्वापरयुग' है और राज्य और प्रजा-हितकारी कार्यों में जब राजा सदा उद्यत रहता है वह 'त्रेतायुग' है जब राजा सभी कर्त्तव्यों को तत्परतापूर्वक करे और अपनी प्रजा के दुःखों को जानने के लिए राज्य में तत्पर होते हुए उन्हें जानकर न्यायानुसार सुख प्रदान करने के लिए उद्यत रहे राजा का यह सत्ययुग है॥

ईश-स्तवन

नमस्ते सते ते जगत्कारणाय, नमस्ते चिते सर्वलोकाश्रयाय। नमोऽद्वैततत्वाय मुक्ति-प्रदाय, नमो ब्रह्मणे व्यापिने शाश्वताय॥ १॥

उस सत्स्वरूप जगत् के कर्त्ता के लिए नमस्कार है, उस चित्स्वरूप सब लोकों के आश्रयदाता को नमस्कार है जो सदा एकरस रहता है। उस अद्वैत मुक्ति के प्रदान करनेवाले ईश्वर को नमस्कार है। उस सर्वत्र व्यापक शाश्वत ब्रह्म को नमस्कार है।

त्वमेकं शरण्यं त्वमेकं वरेण्यं, त्वमेकं जगत्पालकं स्वप्रकाशम्। त्वमेकं जगत्कर्तृ पातृ प्रहर्तृ, त्वमेकं परं निश्चलं निर्विकल्पम्॥ २॥

हे ईश्वर तुम्हीं शरण के योग्य हो, तुम ही सबके वरणीय हो, तुम ही स्वयं प्रकाशक जगत् के

पालनहारे हो और तुम ही जगत् के रचनेहारे, पालन करनेवाले तथा संहार करनेवाले हो। तुम ही निर्विकार निश्चल सर्वत्र व्याप्त हो।

भयानां भयं भीषणं भीषणानां, गतिः प्राणिनां पावनं पावनानाम्। महोच्चैः पदानां नियन्तृ त्वमेकं, परेषां परं रक्षणं रक्षणानाम्॥ ३॥

हे परमेश्वर! आप ही भय देनेवालों को भय देनेवाले तथा सब भीषणों के भी आप भीषण हैं। आप ही प्राणियों की गति हो तथा पवित्र करनेवालों के भी आप पवित्र कर्त्ता हो। आप ही सबसे बड़े हो तथा आप ही सबके नियन्ता हो। आप सबसे श्रेष्ठ तथा रक्षकों के भी रक्षक हैं।

वयं त्वां स्मरामो वयं त्वां भजामो, वयं त्वां जगत्साक्षिरूपं नमामः। सदेकं निधानं निरालम्बमीशं, भवाम्भोधिपोतं शरण्यं व्रजामः॥ ४॥

हे जगदीश्वर हम आपका ही स्मरण और आप का ही भजन करते हैं। हम उस जगत् के साक्षी रूप

आपको नमस्कार करते हैं। आप ही सत्स्वरूप निरालम्ब, सबके निधान जगदीश्वर हैं। संसार रूपी समुद्र को तरने के लिए आप ही नौका हैं हम उन आपकी शरण में आते हैं।

विदुर्यं न चित्तेन्द्रियाणीन्द्रियेशं, विजानाति यस्तानि नित्यं नियन्ता। जगत्साक्षिणं व्यापकं विश्ववन्द्यं, चिदानन्दरूपं तमीशं प्रपद्ये॥ ५॥

उस इन्द्रियों के स्वामी ईश्वर को चित्त और इन्द्रियाँ नहीं जान सकतीं, किन्तु वह नियन्ता उन सबको नित्य जानता है। वह जगत् का साक्षी है, सर्वत्र व्याप्त है तथा सबका वन्दनीय है। उस चिदानन्दरूप ईश्वर को मैं प्राप्त होता हूँ। मैं उसकी शरण में जाता हूँ।

अणोरप्यणीयान्महद्भ्यो महीयान्,
रवीन्दुग्रहज्याभूगोलादिकर्ता।
य ईशो हि सृष्ट्यादिमध्यान्तसंस्थ-
श्चिदानन्दरूपं तमीशं प्रपद्ये॥ ६॥

वह परमात्मा अणु से भी परमाणु है। वह बड़ों से भी बहुत बड़ा है। सूर्य-चन्द्र ग्रह-नक्षत्र सारे भूगोल का वही कर्त्ता है। वह इस सृष्टि का स्वामी है। इस सृष्टि के आदि, मध्य, अन्त सर्वत्र वर्तमान है। उस चिदानन्दरूप परमात्मा को मैं प्राप्त करता हूँ।

वशे यस्य विश्वं समस्तं सदाऽऽस्ते,
यदाभासतो भाति यद्वै विचित्रम्।
न जानन्ति यं त त्त्वतो योगिनोऽपि
चिदानन्दरूपन्तमीशं प्रपद्ये ॥ ७ ॥

यह सारा-का-सारा संसार सदा से उस ईश्वर के वश में है। यह सारा विचित्र संसार उस ईश्वर के प्रकाश से प्रकाशित होता है। तत्त्वज्ञानी योगी लोग भी जिसको नहीं जान पाते, उस चिदानन्द ईश्वर को मैं प्राप्त होता हूँ। उसकी शरण में जाता हूँ।

यज्ञ-समिधा व हवन सामग्री

महर्षि दयानन्द सरस्वती ने संस्कारविधि में 'यज्ञ समिधा' के विषय में लिखा है—पलाश, शमी, पीपल, बड़, गूलर, आम, बिल्व आदि की समिधा वेदी के प्रमाणे छोटी-बड़ी कटवा लेवें, परन्तु ये समिधा कीड़ा लगी, मलिन देशोत्पन्न और अपवित्र पदार्थ आदि से दूषित न हों। अच्छे प्रकार देख लेवें और बराबर बीच में चुनें।

होम के द्रव्य चार प्रकार

(प्रथम सुगन्धित) कस्तूरी, केशर, अगर, तगर, श्वेत चन्दन, इलाइची, जायफल, जावित्री आदि। (द्वितीय पुष्टिकारक) घृत, दूध, फल, कन्द, अन्न, चावल, गेहूँ, उड़द आदि। (तीसरे मिष्ट) शक्कर, शहद, छुहारे, दाख आदि। (चौथे रोगनाशक) सोमलता अर्थात् गिलोय आदि औषधियाँ।

समिधा—शतपथब्राह्मण (१।३।३।१९-२०) में लिखा है—

"ते वै पालाशाः स्युः। ब्रह्म वै पलाशो ब्रह्माऽग्निरग्रयो हि तस्मात्पलाशाः स्युः। यदि पालाशान्न विन्देत्। अथोऽअपि वैकङ्कताः स्युर्यदि वैकाङ्कान्न विन्देदथोऽअपि कार्ष्मर्य-मयाः स्युर्यदि कार्ष्मर्यमयान्न विन्देदथोऽपि बैल्वाः स्युरथो खादिराऽअथोऽऔदुम्बरा एते हि वृक्षा यज्ञियास्तस्मादेतेषां वृक्षाणां भवन्ति।"

समिधा पलाश की होनी चाहिएँ। पलाश ब्राह्मण है, अग्नि भी ब्राह्मण है, इसलिए अग्नियाँ पलाश की होनी चाहिएँ। यदि पलाश न मिले तो विकंकत (वंज) की, विकंक की न हों तो कार्ष्मर्य की, कार्ष्मर्य की न हों तो बेल की या खदिर की या उदुम्बर की। ये ही वृक्ष यज्ञ के योग्य हैं। इन्हीं की परिधियाँ=समिधाएँ लेनी चाहिएँ।

पलाश के अभाव में क्रमशः इन्हीं वृक्षों का उल्लेख आह्निकसूत्रावली में किया गया है—

"पलाशाभावे वैकङ्कतः, तदभावे कार्ष्मर्यः, तदभावे बैल्वा वा खादिरा।"

'आह्निकसूत्रावली' में समिधा के वृक्षों के बारे में ये श्लोक हैं—

पलाशफल्गुन्यग्रोधप्लक्षाश्वत्थविकङ्कताः ।
उदुम्बरस्तथा बिल्वश्चन्दनो यज्ञियाश्च ये ॥
सरलो देवदारुश्च शालश्च खदिरस्तथा ।
समिधार्थे प्रशस्ताः स्युरेते वृक्षा विशेषतः ॥

पलाश (ढाक, खांकरा), फल्गु, वट, पीपल, विकङ्कत (वंज), गूलर, चन्दन, सरल, देवदारु, साल, खैर तथा अन्य यज्ञीय वृक्ष—ये समिधा के प्रयोजन के लिए विशेष उपयोगी हैं।

कुछ लोग नीम की समिधा यज्ञ में डालते हैं, परन्तु उसका प्रयोग किसी ग्रन्थ में नहीं है। दुर्गन्धयुक्त होने से भी यह अग्राह्य है।

वायुपुराण में यज्ञ में उपयोगी वृक्ष इस प्रकार गिनाये हैं—ढाक, काकप्रिया (जिसे बङ्गभाषा में यज्ञ-डभर नाम से पुकारते हैं), बड़, पिलखन,

पीपल, विकङ्कत (जिसे बङ्गभाषा में वइची कहते हैं), गूलर, बेल, चन्दन, देवदारु, शाल, खैर तथा और भी जिन्हें वृद्ध याज्ञिक लोग बतावें, ऐसे काँटेदार वृक्ष उपयोग में आते हैं।

जो लकड़ी जलने में अधिक धुआँ और दुर्गन्धि न दे, वही उत्तम होती है। देश-काल के अनुसार समिधाओं में अन्तर हो सकता है। अफ़ग़ानिस्तान, बिलोचिस्तान आदि देशों में बादाम की लकड़ी भी समिधा का काम दे सकती है। इंगलैण्ड आदि में शाहबलूत की, जर्मनी में लेवेंडर और इटली में यूकलिप्टस की समिधाओं से यज्ञ किया जा सकता है। आह्निकसूत्रावली के अनुसार यथासम्भव फाड़ी हुई लकड़ी का प्रयोग नहीं करना चाहिए। बिना त्वचा (छाल) की लकड़ी तेज व प्रभावहीन होती है—'**प्राणघ्नो निस्त्वचः स्मृताः**'। त्वचारहित समिधा को प्राणों की वृद्धि करने की बजाय प्राणों की हानि करनेवाली कहा है। समिधा के त्वचाभाग में प्राणतत्त्व रहता है, त्वचाहीन भाग

में कार्बन डाई-आक्साइड रह जाता है। फटी हुई लकड़ी को दोषयुक्त बतलाते हुए कहा है—'**द्विदला हि व्याधिसम्भवा**' अर्थात् दो फाड़ की हुई समिधा रोगों को उत्पन्न करती है।

हविर्द्रव्य अथवा सामग्री—यजुर्वेद (३।१) में कहा है—

समिधाग्निं दुवस्यत घृतैर्बोधयतातिथिम्।
आस्मिन् हव्या जुहोतन॥

समिधाओं से यज्ञाग्नि को प्रज्वलित करो। पुनः उस अतिथिरूप अग्नि को घृत से प्रबुद्ध करो और इस प्रकार प्रदीप्त अग्नि में उत्तमोत्तम हवि की आहुतियाँ प्रदान करो।

इस मन्त्र में सब प्रकार के हविर्द्रव्यों में घृत की प्रधानता तो बता दी गई है। शेष द्रव्य कौन-से हैं, इस विषय में श्री देवराज विद्यावाचस्पति ने स्वरचित 'अग्निहोत्र' में श्री गंगासहाय द्वारा प्रकाशित 'होमपद्धति' से निम्न श्लोक उद्धृत किया है—

सुरभीणि सुपुष्टाश्च कारकाणि सितादिकम्।
द्रव्याण्यादाय जुहुयाच्चतुर्थं रोगनाशकम्॥

इस श्लोक में वेदानुकूल १. सुगन्धित, २. पुष्टिकारक, ३. मिष्ट और ४. रोगनाशक द्रव्यों से होम का विधान पूर्व से ही प्रमाणित होता है। ग्रन्थकार ने उनका विवरण प्रस्तुत कर दिया है।

जैसे कुशल चिकित्सक रोगनिदानानुसार द्रव्यगुण-विज्ञान को जानकर तदनुसार ओषधिविशेष का प्रयोग कर रोगी को स्वस्थ बनाता है, उसी प्रकार जब जिस प्रकार के हव्य-द्रव्यों की आवश्यकता हो तब उसी प्रकार के द्रव्यों का प्रयोग करके व्यक्तिविशेष या बाह्य वातावरण को लाभान्वित किया जा सकता है। पुत्रेष्टियज्ञ, वृष्टियज्ञ, रोगविशेष की चिकित्सा के लिए किये जानेवाले यज्ञों में वृक्षविशेष की लकड़ियों का प्रयोग भी अपेक्षित होता है। जलवायु की शुद्धि करना यज्ञ का विशेष प्रयोजन सर्वविदित है। इसलिए सामग्री का भी

ऋत्वनुकूल बनाना आवश्यक है।

प्रत्येक ऋतु के लिए पृथक्-पृथक् होमसामग्री विशेष उपयोगी है। कई वर्ष हुए, छहों ऋतुओं—वसन्त, ग्रीष्म, वर्षा, शरद, हेमन्त, शिशिर के लिए पृथक्-पृथक् हवनसामग्री के योग रावलपिण्डी निवासी कविराज पं० सीतारामजी वैद्य ने आर्यजन्त्री में प्रकाशित कराये थे। उनके प्रत्येक द्रव्य को कई वैद्यक निघण्टुओं में देखा गया है और उनमें से जो पदार्थ अलभ्य पाये गये वा जिनका निघण्टुओं में भी पता नहीं लगा, उन्हें इन योगों में से निकाल दिया गया है तथा इन योगों के प्रत्येक द्रव्य की तारतम्यानुसार मात्रा भी नियत की गई है। इस प्रकार उक्त योगों को परिमार्जित और संशोधित करके नीचे लिखा जाता है तथा एक योग सर्वऋतुओं के लिए सामान्य हवनसामग्री का भी दिया जाता है। आर्य-पुरुष उन्हें अपने-अपने वित्त, श्रद्धा, उत्साह और सुभीते के अनुसार काम में ला सकते

हैं। कहीं-कहीं हवनसामग्री के बनाने में बड़ी असावधानता की जाती है। पंसारी लोग जैसे गले-सड़े द्रव्य दे देते हैं, उन्हीं को सामग्री बनाकर होम दिया जाता है। होम धार्मिक कृत्य है, उसे श्रद्धा और सावधानीपूर्वक करना चाहिए। आहवनीय द्रव्यों का संग्रह बड़ी छान-बीन और सावधानी से करना उचित है। पर्वों पर सदैव यथाशक्ति उत्साहपूर्वक नवीन सामग्री तैयार करके काम में लानी चाहिए। सामग्री का परिमाण भी अपने वित्त और श्रद्धा के अनुसार ही हो सकता है। धनाढ्यों को श्रावणी और नवसस्येष्टियों (दीपावली और होली) पर ऋतु-अनुकूल सामग्री तथा स्थालीपाक से प्रचुर परिमाण में होम-यज्ञ करना चाहिए। आहुतियों का परिमाण भी बढ़ा देना उचित है, जो कम-से-कम छह ग्राम और अधिक-से-अधिक पचास ग्राम तक हो सकता है। आहुतियों की संख्या भी बढ़ाई जा सकती है। नियत विधान के

अतिरिक्त स्वस्तिवाचन, शान्तिकरण, गायत्रीमन्त्र, यजुर्वेद और अथर्ववेद के सौमनस्य और ब्रह्मचर्य आदि उत्तमोत्तम सूक्तों से विशेष आहुतियाँ दी जाएँ।

ऋत्वनुकूल हवनसामग्री

वसन्त-ऋतु

संख्या	नाम	विवरण	भाग
१	छरीला	भूरिछरीला	१२
२	तालीस-पत्र	....	१२
३	पत्रज	....	१२
४	मुनक्का	दाख	३०
५	लज्जावती (पञ्चांग)	छुईमुई	६
६	शीतलचीनी	....	१२
७	कर्पूर	....	१५
८	देवदारु	दयार	३०
९	गिलोय	....	३०
१०	अगर	....	१२
११	केसर	....	१
१२	इन्द्रजौ	....	१२

१३	गुग्गुल	....	३०
१४	चन्दन (श्वेत, लाल, पीला)		३६
१५	जावित्री	....	२
१६	जायफल	....	१२
१७	धूपसरल	एक सुगन्धित-द्रव्य लाहौर आदि से प्राप्य	३०
१८	पुष्करमूल (पोहकरमूल)	रेशेदार काले रङ्ग की कड़वी जड़। इसके बदले में कूट लिया जा सकता है	१२
१९	कमलगट्टा	....	१२
२०	मजीठ	....	१२
२१	वनकचूर	कपूरकचरी	१२
२२	दालचीनी	....	१२
२३	गूलर की छाल सूखी		३०
२४	तेजबल (छाल और जड़)	छाल और जड़ का स्वाद कुछ चरपरा, छाल का रङ्ग पिलापी लिये हुए श्वेत, हरिद्वार और बद्रीनाथ के निकट इसके वृक्ष होते हैं	१२

२५	शंखपुष्पी (पञ्चांग)	हिन्दी नामान्तर शङ्खाहुली तथा कौड़ियाली	६
२६	चिरायता	....	१२
२७	खस	....	१२
२८	गोखरू	....	१२
२९	खाँड वा बूरा....		९०
३०	गोघृत	....	६०
		योग	६००

नोट—इस ऋतु में सुलभतानुसार शमी (जण्ड) की समिधाओं का प्रयोग विशेषतः किया जाए।

ग्रीष्म-ऋतु

संख्या	नाम	विवरण	भाग
१	सुरा	संस्कृतनाम तालपर्णी और मुरामांसी	१२
२	बायबिडंग	....	१२
३	कपूर	....	१५
४	चिरौंजी	....	३०
५	नागरमोथा	....	१२
६	पीला चन्दन (कलम्बक)		१२
७	छरीला	भूरिछरीला	१२

८	निर्मलीफल	इसमें पानी के स्वच्छ करने का गुण है	'१२
९	सतावर	संस्कृतनाम शतावरी	१२
१०	खस	....	१२
११	गिलोय	....	१२
१२	धूपसरल	एक सुगन्धित काष्ठ पञ्जाब से प्राप्य	१२
१३	दालचीनी	....	१२
१४	लवङ्ग	लौंग	१२
१५	गुलसुर्ख	गुलाब के फूल की पत्तियाँ	३२
१६	चन्दन	....	२४
१७	तगर	....	१२
१८	तुम्बरु	....	३०
१९	सुपारी	....	३०
२०	तालीसपत्र	....	१२
२१	पद्माख	एक प्रकार का काष्ठ जिसका बड़ा वृक्ष हिमालय में होता है	१२
२२	दारु हल्दी	....	१२
२३	लाल चन्दन	....	१२

२४	मजीठ	....	१२
२५	शिलारस	एक वृक्ष का पिलापी लिये हुए, भूरा गोंद है वृक्ष विही के सदृश होता है। संस्कृत नाम सिल्हक, फारसी में मैया तथा अंग्रेजी में Storax कहते हैं	१४
२६	केसर	....	१
२७	जटामाँसी	हिन्दी नामान्तर बालछड़	१२
२८	नेत्रबाला	नाली शाक	१२
२९	इलायची बड़ी	....	१२
३०	उन्नाब	....	१२
३१	आँवले	....	१२
३२	खाँड या बूरा	....	९०
३३	घृत	....	६०
		योग	६००

वर्षा-ऋतु

संख्या	नाम	विवरण	भाग
१	काला अगर	....	१२

२	इन्द्रजौ	....	१२
३	धूपसरल	एक सुगन्धयुक्त काष्ठ पञ्जाब से प्राप्य	१२
४	तगर	....	१२
५	देवदारु	....	१२
६	गुग्गुल	....	३०
७	राल	....	३०
८	जायफल	....	१२
९	गोला	....	३०
१०	तेजपत्र	तज के पत्तों के समान होते हैं	१२
११	कपूर	....	१२
१२	बेल	संस्कृत बिल्व	१२
१३	जटामाँसी	बालछड़	३०
१४	छोटी इलायची		६
१५	वच	....	३०
१६	गिलोय	....	१२
१७	तुलसी के बीज तथा पत्ते		१२
१८	बायबिडंग		१२
१९	श्वेतचन्दन का चूरा		३०
२०	नागकेसर	....	१२

२१	चिरायता	....	१२
२२	छुहारे	....	३०
२३	शङ्खाहुली	....	६
२४	मोचरस	सेमल का गोंद	१२
२५	नीम के पत्ते		३०
२६	गोघृत	....	६०
२७	खाँड या बूरा....		९०

योग ६००

नोट—इस ऋतु में सुलभतानुसार ढाक की समिधाओं का प्रयोग विशेषतः किया जाए।

शरद्-ऋतु

संख्या	नाम	विवरण	भाग
१	चन्दन सफेद		३०
२	चन्दन सुर्ख		१२
३	चन्दन पीला		१२
४	गुग्गुल	....	३०
५	नागकेसर	....	१२
६	इलायची बड़ी		१२
७	गिलोय	....	१२
८	चिरौंजी	....	३०

९	गूलर की छाल .... वा सरसों (सर्षप) श्वेत		३०
१०	दालचीनी	....	३०
११	कपूरकचरी	....	३०
१२	मोचरस	सेमल का गोंद	१२
१३	पित्तपापड़ा, शाहतरा,	इसके क्षुप लाल और नीले फूल के दो प्रकार के होते हैं, लाल फूल का अधिक गुणवाला है, संस्कृत पर्पट	१२
१४	अगर	....	१२
१५	भारङ्गी	....	१२
१६	इन्द्रजौ	....	१२
१७	असगन्ध	....	१२
१८	शीतलचीनी	....	१२
१९	जायफल	....	१२
२०	पत्रज	....	१२
२१	चिरायता	....	१२
२२	केसर	....	१
२३	किशमिश	....	३५
२४	जटामाँसी	बालछड़	३०

२५	तालमखाना	इसके कँटिदार क्षुप वर्षा-ऋतु में तालों में होते हैं	१२
२६	सहदेवी	हिन्दी नामान्तर सहदेई, तुलसी के समान पत्तों-वाली एक घास है।	६
२७	धान की खील	....	१२
२८	कपूर	....	२२
२९	घृत	....	६०
३०	खाँड या बूरा	....	९०
		योग	६००

नोट—इस ऋतु में सुलभतानुसार ढाक की समिधाओं का प्रयोग विशेषतः किया जाए।

हेमन्त-ऋतु

संख्या	नाम	विवरण	भाग
१	कूट	....	१२
२	मूसली काली	....	१२
३	घोड़ावच, सफेदवच	घोड़ावच गुजराती नाम है।	१२
४	पित्तपापड़ा, शहतरा	इसके क्षुप लाल और नीले फूल के दो प्रकार	

		के होते हैं, लाल फूल का अधिक गुणवाला है, संस्कृत पर्पट।	
५	कपूर	....	१२
६	कपूरकचरी	संस्कृत, गन्धपलाशी, अरबी जरम्बाद, एक बेल है, इसकी जड़ को टुकड़े करके सुखा लेते हैं।	२४
७	गिलोय	....	१२
८	पटोलपत्र	हिन्दी नाम परवल	१२
९	दालचीनी	....	१२
१०	भारङ्गी	....	१२
११	सौंफ	....	१२
१२	मुनक्का	....	२०
१३	गुग्गुल	....	३०
१४	अखरोट की गिरी	....	२४
१५	पुष्करमूल	....	१२
१६	छुहारे	....	३०
१७	गोखरू	....	१२
१८	कौंच के बीज, हिन्दी कौंच		६

१९	बादाम	....	१२
२०	मुलहठी	....	१२
२१	काले तिल	....	३०
२२	जावित्री	....	१२
२३	लाल चन्दन	....	१२
२४	मुश्कबाला	....	६
२५	तालीसपत्र	....	१२
२६	गोला	....	३०
२७	तुम्बरु	....	३०
२८	खाँड या बूरा	....	९०
२९	गोघृत	....	६०
३०	रासना	बंगदेश के प्राचीन आम्र आदि वृक्षों पर इसकी जड़ वृक्ष की छाल के ऊपर जमी रहती है, फूल नीला, बैंजनी, छींटदार।	६
		योग	६००

नोट—इस ऋतु में सुलभतानुसार आम या खैर की समिधाओं का प्रयोग विशेषत: किया जाए।

शिशिर-ऋतु

संख्या	नाम	विवरण	भाग
१	अखरोट	....	२४
२	कचूर	कपूरकचरी का एक प्रकार है	१२
३	बायबिडंग	....	१२
४	इलायची बड़ी		१२
५	मुलहठी	....	१२
६	मोचरस	सेमल का गोंद	१२
७	गिलोय	....	१२
८	मुनक्का	....	३०
९	रेणुका (संभालू)		६
१०	काले तिल	....	२४
११	तज	....	१२
१२	चन्दन	....	२४
१३	चिरायता	....	१२
१४	छुहारे	....	२४
१५	तुलसी के बीज तथा पत्ते		१२
१६	गुग्गुल	....	३०

१७	चिरौंजी	....	१२
१८	काकड़ासींगी		१२
१९	सतावर	संस्कृत नाम शतावरी	१२
२०	दारु हल्दी	....	१२
२१	शङ्खपुष्पी	....	६
२२	पद्माख	....	१२
२३	कौंच के बीज		६
२४	जटामाँसी	....	३०
२५	भोजपत्र	....	६
२६	तुम्बरु	तूम्बूर	३०
२७	राल	....	३०
२८	सुपारी	....	१२
२९	घी	....	६०
३०	खाँड या बूरा....		९०
		योग	६००

नोट—इस ऋतु में सुलभतानुसार गूलर तथा बड़ की समिधाओं का प्रयोग विशेषतः किया जाए।

सर्व-ऋतु-सामान्य हवनसामग्री

संख्या	नाम	विवरण	भाग
१	सफेद चन्दन का चूरा		२४

२	अगर	....	१५
३	तगर	....	१५
४	गूगल	....	३०
५	जायफल	....	७
६	जावित्री	....	७
७	दालचीनी	....	१५
८	तालीसपत्र	....	१५
९	पानड़ी	....	१५
१०	लौंग	....	१५
११	बड़ी इलायची	....	१५
१२	गोला	....	३०
१३	छुहारा	....	३०
१४	नागरमोथा	....	१५
१५	गुलसुर्ख	....	३०
१६	इन्द्रजौ	....	१५
१७	कपूर	....	१५
१८	आँवला	....	१५
१९	किशमिश	....	३०
२०	बालछड़	....	३०
२१	नागकेसर	....	७
२२	तुम्बरु	तूंबर	३०

२३	सुपारी	....	३०
२४	नीम के पत्ते या राल (राल—साल का गोंद)		३०
२५	बूरा वा खाँड	....	६०
२६	घी	....	६०
		योग	६००

नोट—(१) ऊपर कोई विशेष तोल न लिखकर भाग इसलिए लिखे गये हैं कि यथेष्ट कम-से-कम और अधिक-से-अधिक तोल में सामग्री बनाई जा सके। जैसे यदि एक किलो दो सौ ग्राम सामग्री बनानी हो तो १ भाग २ ग्राम का होगा।

(२) कपूर, घृत, खाँड, मेवे और पञ्चाङ्गवाली ओषधियाँ हवन के समय तुरन्त मिलानी चाहिएँ।

पं० आत्मारामजी ने स्वरचित संस्कारचन्द्रिका में लिखा है कि घृत, दूध, फल, कन्द आदि पुष्टिदायक पदार्थ हैं। सुगन्धित तथा पुष्टिकारक पदार्थ यदि बिना घृत मिलाये अग्नि में जलाये जाएँ तो उनकी सुगन्ध में तीव्रता और सूखापन होने से जुकाम आदि रोग हो सकते हैं। घृत मिलाये जाने

पर किसी प्रकार के रोगों की आशंका नहीं रहती और सुगन्ध भी मर्यादित हो जाती है। घी का यह भी गुण है कि वह एक रोगनाशक पदार्थ है और अग्नि को प्रदीप्त भी करता है। बादाम, केसर, नाशपाती, नारियल का तेल आदि पुष्टिकारक पदार्थ हैं। इनके जलाने से मिष्ट वायु में फैलकर जहाँ अनेक रोगों को दूर करते हैं, वहाँ शरीर को पुष्ट कर बल भी प्रदान करते हैं।

होम के उपर्युक्त चार द्रव्यों का निर्देश उनकी गुणवत्ता के आधार पर तात्त्विक दृष्टि से किया गया है। आजकल गुणवत्ता की उपेक्षा करके मात्रा या परिमाण पर अधिक ध्यान दिया जाता है। परिणामत: अपेक्षित फल की प्राप्ति नहीं होती। केसर और कस्तूरी के बिना भी विधिवत् निर्मित सामग्री वर्त्तमान में ४०-४५ रुपये किलो से कम में नहीं मिल सकती। तब ८-१० रुपये किलोवाली सामग्री में क्या होगा? ऐसी एक किलो सामग्री के स्थान पर विधिवत् बनी शुद्ध पचास ग्राम सामग्री से यज्ञ करने से अधिक लाभ होगा।

ऋत्विज—ऋग्वेद (१०।७१।११) में

ऋत्विजों के सम्बन्ध में लिखा है—

ऋचां त्वः पोषमास्ते पुपुष्वान् गायत्रं त्वो गायति शक्वरीषु। ब्रह्मा त्वो वदति जातविद्यां यज्ञस्य मात्रां वि मिमीत उ त्वः॥

तदनुसार चार प्रकार के ऋत्विज् होते हैं—(१) ऋचाओं का पोषण करनेवाला "होता" नामक ऋत्विज्, (२) ऋचाओं का ज्ञान करनेवाला उद्गाता, (३) यज्ञ की मात्रा निर्धारित करनेवाला अध्वर्यु, (४) यज्ञ का संचालन करनेवाला ब्रह्मा।

होता का काम यज्ञ की रूपरेखा तैयार करना और तदनुसार उसे विधिवत् सम्पन्न कराना होता है। होता वेदी के पश्चिम में पूर्वाभिमुख बैठता है। अध्वर्यु वेदी के उत्तर में दक्षिणाभिमुख बैठता है। विधि में किसी प्रकार की त्रुटि न होने पाये, यह देखना अध्वर्यु का काम है। इसलिए उसे सतत जागरूक रहना पड़ता है। उद्गाता का काम मन्त्रों का शुद्ध व सुस्वर पाठ करना होता है। उसे उद्गाता इसलिए कहते हैं, क्योंकि उसके साथ मिलकर ही सब लोग उच्च स्वर में मन्त्रों का गान करते हैं।

ब्रह्मा का काम मौन रहकर सारी विधि का निरीक्षण करते रहना होता है। कहीं कोई त्रुटि होने पर कार्य को बीच में रोककर त्रुटि की ओर संकेत करना और उसे ठीक कराना ब्रह्मा का काम होता है, अन्यथा वह चुपचाप सब-कुछ देखता रहता है— "**अकुर्वन्नभिचाकशीति**"।

यजमान—किसी संकल्प या प्रयोजन को लक्ष्य में रखकर वह यज्ञ का अनुष्ठान करता है, इसलिए उसका आसन पश्चिम दिशा में होता है और वह पूर्वाभिमुख बैठता है। यजमान-पत्नी उसके दक्षिण में बैठती है।

पुरोहित—ग्रन्थकार का निश्चित मत है कि 'धर्मात्मा' शास्त्रोक्त विधि को पूर्ण रीति से जाननेहारे, सद्धर्मी, निर्व्यसनी, सुशील, वेदप्रिय, पूजनीय, सर्वोपकारी गृहस्थ की पुरोहित संज्ञा है।

—आर्य पर्व-पद्धति कृत पं० भवानीप्रसाद,
संस्कारभास्कर स्वामी विद्यानन्द सरस्वती
पुस्तक से उद्‌धृत।

भजन-संग्रह

(१)

ओम् है जीवन हमारा, ओम् प्राणाधार है।
ओम् है कर्ता विधाता, ओम् पालनहार है॥ १ ॥
ओम् है दुःख का विनाशक, ओम् सर्वानन्द है।
ओम् है बल तेजधारी, ओम् करुणाकन्द है॥ २ ॥
ओम् सबका पूज्य है, हम ओम् का पूजन करें।
ओम् ही के ध्यान से हम, शुद्ध अपना मन करें॥ ३ ॥
ओम् के गुरु मन्त्र जपने से रहेगा शुद्ध मन।
बुद्धि दिन प्रतिदिन पढ़ेगी, धर्म में होगी लगन॥ ४ ॥
ओम् के जप से हमारा, ज्ञान बढ़ता जाएगा।
अन्त को यह जाप हमको, मुक्ति तक पहुँचाएगा॥ ५ ॥
वेद-विद्या का विधाता ज्ञान ज्योतिधाम है।
मोक्षफल का सद्यःदाता ओम् परमानन्द है॥ ६ ॥

(२)

शरण प्रभु की आओ रे, यही समय है प्यारे।
आओ, प्रभु गुण गाओ रे, यही समय है प्यारे॥
कपट दम्भ और झूठ को त्यागो, सत्य में चित्त लगाओ रे॥ यही०
उदय हुआ ओम् नाम का भानु, आओ दर्शन पाओ रे॥ यही०
पान करो इस अमृत जल का उत्तम पदवी पाओ रे॥ यही०
ओम् की भक्ति बिन नहीं मुक्ति, दृढ़ विश्वास जमाओ रे॥ यही०
मानव जन्म अमूल्य है प्राणी, व्यर्थ न इसे गंवाओ रे॥ यही०
कर लो नाम प्रभु का सुमिरन, अन्त में ना पछताओ रे॥ यही०

(३)

तुम्हारे दिव्य दर्शन की मैं इच्छा लेके आया हूँ।
पिला दो प्रेम का अमृत पिपासा लेके आया हूँ॥
रत्न अनमोल लाते लानेवाले भेंट को तेरी।
मैं केवल आँसुओं की मंजु माला लेके आया हूँ॥
जगत् के रङ्ग सब फीके तू अपने रङ्ग में रङ्ग दे।
मैं अपना ये महाबदरङ्ग बाना लेके आया हूँ॥
प्रकाश आनन्द हो जाए मेरी अन्धेरी कुटिया में।
तुम्हारा आसरा विश्वास आशा लेके आया हूँ॥

(४)

आज मिल सब गीत गाओ उस प्रभु के धन्यवाद।
जिसका यश नित गाते हैं गन्धर्व गुणिजन धन्यवाद॥
मन्दिरों में कन्दरों में पर्वतों के शिखर पर।
देते हैं लगातार सौ-सौ बार मुनिवर धन्यवाद॥
करते हैं जङ्गल में मङ्गल पक्षिगण हर शाख पर।
पाते हैं आनन्द, मिल गाते हैं स्वर भर धन्यवाद॥
कूएँ में, तालाब में सिन्धु की गहरी धार में।
प्रेम-रस में तृप्त हो सकते हैं जलचर धन्यवाद॥
शादियों में, कीर्तनों में यज्ञ और उत्सव के बाद।
मीठे स्वर से चाहिए करें नारी-नर सब धन्यवाद॥
गान कर 'अमीचन्द' भजनानन्द ईश्वर की स्तुति।
ध्यान धर सुनते हैं श्रोता, कान धरधर धन्यवाद॥

(५)

अब सौंप दिया इस जीवन का, सब भार तुम्हारे हाथों में।
है जीत तुम्हारे हाथों में, है हार तुम्हारे हाथों में॥
मेरा निश्चय है एक यही, इक बार तुम्हें पा जाऊँ मैं।
अर्पण कर दूँ जगती भर का, सब प्यार तुम्हारे हाथों में॥
या तो मैं जग से दूर रहूँ और जग में रहूँ तो ऐसे रहूँ।
इस पार तुम्हारे हाथों में, उस पार तुम्हारे हाथों में॥
यदि मानुष ही मुझे जन्म मिले तब तब चरणों का पुजारी रहूँ।
मुझ पूजक की इक-इक रग का, हो तार तुम्हारे हाथों में॥
जब-जब संसार का बन्दी बन, दरबार तेरे में आऊँ मैं।
हो तब-तब पापों का निर्णय, सरकार तुम्हारे हाथों में॥
मुझमें तुझमें है भेद यही, मैं नर हूँ तू नारायण है।
मैं हूँ संसार के हाथों में, संसार तुम्हारे हाथों में॥

(६)

ओ३म्-ध्वज-गीत

जयति ओ३म् ध्वज व्योम विहारी।
विश्व प्रेम प्रतिमा अति प्यारी॥
सत्य-सुधा बरसानेवाला, स्नेह-लता सरसानेवाला।
साम्य-सुमन विकसानेवाला, विश्व-विमोहक भव-भय हारी॥
इसके नीचे बढ़ें अभय मन, सत्पथ पर सब धर्मधुरी जन।
वैदिक रवि का हो शुभ उदयन, आलोकित होवें दिशि सारी॥
इसके सारे क्लेश शमन हों, दुर्मति दानव द्वेष दमन हों।
अति उज्ज्वल अति पावन मन हों, प्रेम-तरङ्ग बहे सुखकारी॥
इसी ध्वजा के नीचे आकर, ऊँच नीच का भेद भुलाकर।
मिले विश्व मुद मङ्गल गाकर, पन्थाई पाखण्ड बिसारी॥
इसी ध्वजा को लेकर हम कर में, भर दें वेदज्ञान घर-घर में।
सुभग शान्ति फैले जग भर में, मिटे अविद्या की अन्धियारी॥
विश्वप्रेम का पाठ पढ़ावें, सत्य अहिंसा को अपनावें।
जग में जीवन ज्योति जगावें, त्यागपूर्ण हो वृत्ति हमारी॥
आर्यजाति का सुयश अक्षय हो, आर्यध्वजा की अविचल जय हो।
आर्यजनों का ध्रुव निश्चय हो, आर्य बनावें वसुधा सारी॥

(७)

ईश्वर तुम्हीं दया करो, तुम बिन हमारा कौन हैं।
दुर्बलता दीनता हरो, तुम बिन हमारा कौन हैं॥
जग को बनानेवाला तू, दुःख को मिटानेवाला तू।
बिगड़ी बनानेवाला तू, तुम बिन हमारा कौन है॥
माता तू ही तू ही पिता, बन्धु तू ही तू ही सखा।
केवल तुम्हारा आसरा, तुम बिन हमारा कौन है॥
तेरा भजन, तेरा मनन, तेरी ही धुन, तेरी लगन।
तेरी शरण केवल शरण, तुम बिन हमारा कौन है॥
तेरी दया को छोड़कर, कुछ भी नहीं हमें खबर।
जाएँ तो जाएँ हम किधर, तुम बिन हमारा कौन है॥

(८)

जगदाधार अमर सुखधाम, एक सहारा तेरा नाम।
कैसी सुन्दर सृष्टि बनाई, सूर्यचन्द्र-सी ज्योति जगाई॥
बहुत मनोहर वायु बहाई, एक से एक-विलक्षण काम॥
शीतल सरस सुधा सम पानी, अमृत अन्न खाएँ सब प्राणी।
गुण गाएँ ज्ञानी और ध्यानी, जपें निरन्तर आठों यामी॥
पत्र-पत्र में रङ्ग रूप निराला, पुष्प-पुष्प में गन्ध विशाला।
फल-फल पृथक् प्रेम रस प्याला, तेरी लीला ललित ललाम॥
तुम हो अमर सुपथ के स्वामी, मैं हूँ अमर कुमारग गामी।
एक नाम के दोनों नामी, मैं गुणरहित आप गुणधाम॥

(९)

यह ओ३म् का झण्डा आता है, ऐ सोनेवालो जाग चलो।
लेकर उगते रवि की लाली, ले नित्य वसन्ती हरियाली।
यह ले ले लहरें आता है, जागे धरती के भाग्य चलो॥
पर्वत से कह दो नम जाये, सागर से कह दो थम जाये।
यह एक बनाने जगती को, उमड़ा है रे अनुराग चलो॥
जब गोली-गोले बरसेंगे, यह शिर कट-कटकर सरसेंगे।
हम मौत के भीषण आङ्गन में, हँस-हँस खेलेंगे फाग चलो॥
अब प्रेम सचाई विद्या का, यह झण्डा लहराया बांका।
पाखण्ड असत्य अविद्या से कह दो, रे अब तुम भाग चलो॥

(१०)

ओ३म् नाम प्रिय बोल रे, तोहे शान्ति मिलेगी।
चहुँ दिशि प्रभु की ज्योति निरखले, ज्ञान चक्षु को खोल रे।
धर्म कर्म की हाट लगा ले, पूरा पूरा तोल रे।
दम्भ द्वेष छल स्वार्थ त्याग दे, प्रेम प्रीति रस घोल रे।
विषयों में मत खो 'प्रकाश' तू मानुष तन अनमोल रे।

(११)

बनो आर्य खुद और जहाँ को बना दो।
जो कहते हो दुनिया को करके दिखा दो॥
'प्रभु एक है वेद है उसकी वाणी'।
यह पैगाम स्वामी का घर-घर सुना दो॥
न ऋषियों की तहजीब मिट जाये वीरो!
मिटायें जो उसको उन्हें तुम मिटा दो॥
हँसाओं न दुनिया को लड़ लड़के नाहक।
समाजों में उल्फत की गङ्गा बहा दो॥
भटकते बहुत-से लब फिर रहे हैं।
मुसाफिर उन्हें जामे वहदत पिला दो॥
जहालत की दीवार जो अब तक खड़ी है।
उठो और उसे तुम जड़ से हिला दो॥

(१२)

प्रभो! वेदवीणा बजे विश्व भर में।
सुने मन्त्र-झंकार प्रत्येक स्वर में॥
पियें प्रेम-पीयूष मिल प्रीति से सब।
करे स्नान संसार फिर स्नेह-सर में॥
बन्धे विश्व-बन्धुत्व की शृंखला में।
करें रक्तरंजित न धरणी समर में॥
अमर शान्ति का गान गूँजे गगन में।
सुधा सी बरसने लगे सप्त स्वर में॥
उगे व्योम में ज्ञान का दिव्य भानु।
खिलें पुष्प पंकज विमल मान-सर में॥
पताका उड़े ओ३म् की फिर गगन में।
बहे विश्व स्वाधीनता की लहर में॥
यही कामना थी दयानन्द ऋषि की।
यही गूँज थी उनके प्रत्येक स्वर में॥

(१३)

प्रभु बुद्धि निर्मल हमारी बना दो।
पिता अपनी भक्ति का अमृत पिला दो॥
तेरे चरणों में ध्यान अपना लगायें।
न मनरूपी शीशे को मैला बनावें॥
कभी सत्य पथ से, पग न हटावें।
हमें धर्म की राह पर चलना सिखा दो॥
न मन में हमारे हो कभी भी अन्धेरा।
न अज्ञान हो न अविद्या का डेरा॥
सदा आत्मा में हो प्रकाश तेरा।
सदाचार का पाठ हमको पढ़ा दो॥
न 'नन्दलाल' भक्ति में मन को लगाया।
विषय-वासनाओं में ही जीवन बिताया॥
शरम शार होके तेरे द्वारे पे आया।
भँवर में है किश्ती किनारे लगा दो॥

ब्र० नन्दकिशोरजी



ब्रह्मचारी नन्दकिशोरजी विद्यावाचस्पति, एम०ए० एक मनस्वी युवक हैं। आप आर्यसमाज के हनुमान् हैं। सारे भारत में भ्रमण की दृष्टि से आप नारदजी हैं। आज दिल्ली में हैं, तो कल हरद्वार में, परसों नागपुर में, फिर बम्बई में। आप स्वाध्यायशील तथा चिन्तक एवं विचारक भी हैं। आप अहर्निश आर्यसमाज की उन्नति के लिए सोचते रहते हैं। नेपाल में आपने गुरुकुल की स्थापना कर दी। भारत में भी कितने ही स्थानों पर संस्थाओं के सञ्चालन में आप अपना योग दे रहे हैं। पं० सत्यकेतुजी द्वारा लिखित 'आर्यसमाज के इतिहास' में भी आपने सारे भारत में घूम-घूमकर जो सामग्री डॉ० सत्यकेतुजी को उपलब्ध कराई है, वह आपका ही कार्य है। नेपाली और मराठी साहित्य के प्रकाशन में भी आपने खूब सहयोग किया है। लाला आदित्यप्रकाश, पानीपत निवासी द्वारा स्थापित 'अनीता आर्ष प्रकाशन' भी आपकी ही प्रेरणा का फल है।